॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

वर्ष : २
अंक : ६

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

आश्विन
२४७२

❀ प्रभु कौन हो सकता है ? ❀

प्रभु ! तू ज्ञानस्वरूप है, तू समझ सकता है, यही समझकर तुझे समझा रहे हैं। ''मैं नहीं समझ सकूंगा'' यह शल्य ही तुझे समझने में बाधक है। भगवंत ! यह बात मन से निकाल दे कि मैं नहीं समझ सकता। ऐसी उत्तम मनुष्य देह और सत् को समझने का यह उत्तम सुयोग मिला, फिर भी सत् न समझा जाय, यह कैसे हो सकता है ? चैतन्य बल से भगवान आत्मा परिपूर्ण है। यदि वह बल स्वोन्मुख हो तो वीतराग हो जाय। अनंतानंत आत्मा स्वानुभव की प्रतीति करके मुक्त हो गये हैं। प्रत्येक आत्मा आत्मप्रतीति कर सकता है।

अनंत काल से संसार में जो परिभ्रमण कर रहा है, वह दूसरे की भूल से नहीं किन्तु अपनी भूल से कर रहा है। जो भगवान (सिद्ध) हो गये हैं, वे तो परिपूर्ण स्वरूप को प्राप्त वीतराग हैं। वे किसी पर कृपा या अकृपा नहीं करते। उनने तो केवल मार्ग दिखाया है। जो इस मार्ग पर चलता है, उसका कल्याण होता है।

देह-मन-वाणी के साधन से त्रिकाल में भी धर्म नहीं हो सकता। यहाँ तो मोक्ष होने की बात है—जन्म-मरण का अंत करने की बात है। स्वभाव को पहिचाने बिना जन्म-मरण का अंत कदापि नहीं हो सकता। इस बात को समझना भी कठिन हो गया है। भगवान आत्मा स्वयं प्रभु है, किन्तु उसने अपने अंतरंग पथ को कभी भी प्रीतिपूर्वक नहीं सुना—समझा।

अंतर (चैतन्य) शक्ति की सामर्थ्य परिपूर्ण है, किन्तु अनादि काल से ऊपर ही ऊपर दृष्टि रही है, इसलिये उसे अपना परिपूर्ण स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता।

आत्मप्रतीति के साथ आत्मा की स्थिरता में रहकर आगे बढ़ना, सो मोक्षमार्ग है। उसे मोक्षमार्ग कहो, अमृतमार्ग कहो या स्वरूपमार्ग कहो। जो प्रभु हुये हैं, वे बाह्य साधनों से नहीं, किन्तु अंतर स्वरूप की सामर्थ्य से हुये हैं। समस्त आत्मा शक्ति की अपेक्षा से प्रभु स्वरूप है, जो अपनी प्रभुता को पहचान लेता है, वह प्रभु होता है।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग १८ दर्शक मासिक पत्र

एक अंक पाँच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

सामान्य और विशेष ज्ञान

शंका—यह ज्ञान पहले नहीं था किन्तु निमित्त मिलने पर प्रगट हुआ है। यदि यह ज्ञान मुझमें ही होता तो मुझे पहले इसकी खबर क्यों नहीं हुई ?

समाधान—ज्ञान तो तेरे पास ही है, वह उसी में से प्रगट होता है। पहले सामान्य शक्ति के रूप में ज्ञान था, वही विशेष रूप में (पर्यायरूप में) प्रगट हुआ है।

जो सामान्य ज्ञान त्रिकाल शक्तिरूप में है, यदि उसे जीव माने तो मानना होगा कि अपनी सामान्य शक्ति की ही यह विशेष पर्याय होती है किन्तु यदि कोई सामान्य ज्ञान को ही न माने तो वह ''मेरा यह विशेष ज्ञान पर में से आया है, गुरु के मिलने से यह ज्ञान हुआ है'' इस प्रकार ज्ञान को पराश्रित मानेगा, जो कि अयथार्थ है।

प्रत्येक द्रव्य में गुण का भंडार मौजूद है, उस में से ही पर्याय में आता है। आत्मा में भी ज्ञान इत्यादि का महा भंडार भरा हुआ है और वह उस में से ही पर्याय में आता है। यह बात गलत है कि पढ़ने से ज्ञान हुआ है। ज्ञान जो शक्तिरूप है, उस में से ही विशेष ज्ञान प्रगट हुआ है।

विशेष ज्ञान का अर्थ है ज्ञान की वर्तमान पर्याय। यह विशेष कहाँ से आ गया ? जो त्रिकाल सामान्य ज्ञान मौजूद है, उसी में से आया है। जो भीतर के त्रैकालिक सामान्य ज्ञान की प्रतीति करता है, वह विशेष ज्ञान को पर का अवलंबन नहीं मानता और अपनी जो विशेष पर्याय है, उसका अवलंबन भी न मानकर भीतर के त्रैकालिक ज्ञान का ही अवलंबन मानता है।

त्रैकालिक सामान्य तो समस्त विद्यमान है, उस की वर्तमान प्रगट पर्याय के अल्प होने पर भी त्रैकालिक सामान्य तो सारा परिपूर्ण ही है। जिसे इस त्रैकालिक सामान्य की श्रद्धा नहीं है, वह विशेष, निमित्त से आलंबन से आया हुआ मानता है।

यह तो वणिक् युक्ति सी मालूम होती है। जैसे व्यापारी कहता है कि भाई! घर में पर्याप्त पूंजी नहीं है, इसलिये दूसरे का मुँह ताकना पड़ता है। दूसरे से रुपया लें, उसका ब्याज भरें और फिर भी कितना आभारी रहना पड़ता है; किन्तु जिसके घर में पर्याप्त पूँजी है, वह दूसरे का मुँह नहीं ताकता–उस का आभारी नहीं बनता। इसी प्रकार अपने में ज्ञानरूपी पूँजी त्रिकाल परिपूर्ण है, उस में से पर्याय आती है। जिसे अपने ज्ञानस्वभाव की खबर है, वह पर निमित्त की आशा नहीं करता। निमित्त के अभाव से ज्ञान की कमी नहीं है किन्तु सामान्य शक्ति की ओर एकाग्रता न होने से कमी

दिखाई देती है। यदि त्रिकाली शक्ति की श्रद्धा करे तो उसमें से एकाग्र होकर पूर्ण ज्ञान को निकाले। ज्ञान की अवस्था निमित्त को लेकर नहीं आई किन्तु जो त्रैकालिक शक्ति मौजूद है, उसमें से आई है।

प्रश्न—कुंजी के आने पर ताला खुलता है, उसी प्रकार निमित्त के मिलने पर ज्ञान की पर्याय खिलती है—क्या यह ठीक नहीं है ?

उत्तर—नहीं! ताला खुलनेयोग्य था, तब कूची आई; इस प्रकार इस बात की एक गुत्थी है। उसी प्रकार (ताले कूची की तरह) निमित्त के द्वारा ज्ञान की पर्याय नहीं खिली किन्तु भीतर त्रैकालिक सामर्थ्य मौजूद है, उसमें से उस सामान्य का विशेष प्रगट हुआ है। ज्ञान की पर्याय कहीं ऊपर से नहीं आ टपकी, किन्तु भीतर जो त्रैकालिक शक्ति विद्यमान है, उसी के आधार से आई है। भीतर जो शक्ति विद्यमान है, उसकी प्रतीति नहीं है, इसलिये अज्ञानी यह मानता है कि बाह्य निमित्त से ज्ञान की पर्याय आई है।

जैसे फूलझड़ी में से फूल (अग्निकण) खिरते हैं, वे फूलझड़ी में ही सामर्थ्यरूप में विद्यमान थे और वे ही प्रगट होते हैं; उसी प्रकार आत्मा में ऐसी सामर्थ्य भरी हुई है कि उसमें यदि एकाग्रता रूपी चिनगारी रख दी जाय तो निर्मल पर्याय के फूल चटाचट झरने लगें।

वर्तमान अवस्था में अपूर्ण होकर भी उस समय ज्ञानशक्ति में पूर्णरूपेण विद्यमान है। ★

धर्मप्रिय ग्राहकगण,

आप से यह प्रार्थना की जाती है कि आप आत्मधर्म के प्रसार के लिये आपकी पास जो प्रति आती है, वह कम से कम पाँच साधर्मी भाई-बहिनों को स्वाध्याय के लिये दीजिये और एकाध नया ग्राहक बनवाकर उनका नाम यहाँ पर भेजने की कृपा कीजिये। — *रवाणी*

आत्मधर्म : वर्ष : २ : : अंक : ३ : १८ : आश्विन : : २४७२ :

☆ किस का त्याग ? ☆

प्रत्याख्यान (त्याग) की व्याख्या कही जाती है। लोग कहते हैं कि त्याग करो, त्याग करो—किन्तु त्याग का स्वरूप क्या है ? त्याग कोई वस्तु है, कोई गुण है या किसी पदार्थ की अवस्था है। क्योंकि जो शब्द कहा जाता है, वह किसी द्रव्य को, किसी गुण को अथवा किसी पर्याय को अवलंबन करके होता है। त्याग किसी परवस्तु का त्याग है अथवा किसी राग-द्वेष का त्याग है या स्वरूप में एकाग्र रहना, सो त्याग है ?

आत्मा के मूलस्वभाव में ग्रहण-त्याग नहीं है। आत्मा ने पर का कुछ ग्रहण किया हो, तब तो त्यागे न ? इसलिये स्वरूप की पहचान करके उसमें स्थिर रहना ही त्याग है और वह आत्मा की निर्मल पर्याय है। मकान, कुटुम्ब, लक्ष्मी इत्यादि कहीं आत्मा में घुस नहीं गये हैं, तब फिर उनका त्याग कैसे हुआ ? वे मकान आदि आत्मा में घुस नहीं गये किन्तु मान्यता में घुसे हुये हैं। यह मान रखा है कि 'शरीर, मकान, स्त्री, लक्ष्मी इत्यादि मेरे हैं' और यही अत्याग भाव है।

जो विपरीत मान रखा था, उसमें प्रतीति हुई कि यह मैं नहीं हूँ। मेरे स्वभाव का विस्तार, वह विकार नहीं हो सकता। मैं एक आत्मा हूँ और जानना-देखना मेरा स्वभाव है। उसमें पर के निमित्त से जो क्रोध, मान, माया और लोभ का विस्तार दिखाई देता है, वह मेरे आत्मा के स्वभाव का विस्तार नहीं है। राग-द्वेष को छोड़ना ही व्यवहार है। आत्मा के अखंड, शुद्ध, निर्मल स्वभाव में जितने अंश में स्थिर हुआ जाता है, उतने अंश में राग-द्वेष सहज छूट जाता है, उसी को त्याग कहते हैं।

हिन्दुस्तान के लोग त्याग के नाम पर ठगाये गये हैं। बाबा जोगी इत्यादि अनेक प्रकार के त्याग का ढोंग करके निकल पड़े हैं। उनके बाह्य त्याग को देख कर हिन्दुस्तान के लोग ठगाये जाते हैं। क्योंकि हिन्दुस्तान में इतनी आर्यता और त्याग का प्रेम है कि वे त्याग के नाम पर सदा ठगाये जाते हैं और वे त्याग की सच्ची पहचान नहीं कर पाते।

जन्म-मरण कैसे टले ?

शरीरादि के रजकण में रजकण की क्रिया स्वतंत्र होती है। संसार की रुचिवाले जीवों के वैराग्य नहीं होता। इस मनुष्य भव को प्राप्त करके, अशरीरी भाव को प्रगट करके ऐसा भाव प्रगट नहीं किया कि मात्र एक भव रह जाय और यह नहीं जान पाया कि वीतरागदेव क्या कहते हैं तो फिर भव का अंत कैसे होगा ? बिना समझे मनुष्य भव व्यर्थ जायगा। ऐसे भव तो कीड़ी-मकोड़े के समान है। संसार में ऐसे तो अनेक जन्म लेते हैं और मरते हैं किन्तु यदि ऐसा भाव प्रगट करे कि भव नहीं रहे तो जीवन की सफलता है। और यदि दुनिया के कहने के अनुसार चले तो आत्मा का धर्म होना अथवा जन्म-मरण का दूर होना त्रिकाल में भी नहीं बन सकता।

यह कदापि नहीं हो सकता कि दुनिया अपना माने तो अपनी दुर्गति दूर हो जायगी अथवा दुनिया अपना न माने तो अपनी दुर्गति हो जायगी। जीवों ने अनादि काल से रुचिपूर्वक यह कभी सुना ही नहीं है कि आत्मा का स्वरूप क्या है ? रुचिपूर्वक सुने बिना समझे कहाँ से ? बहुत से जीवों को तो यह भी खबर नहीं है कि सच्चा देव किसे कहा जाय और सच्चा गुरु कौन है ?

यदि आत्मा की पहिचान किये बिना कदाचित् कोई जीव सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र की पहिचान कर ले तो भी वह व्यवहार सम्यग्दर्शन होगा जो कि पुण्यबंध है, धर्म नहीं। देव, गुरु, शास्त्र, शरीर, मन, वाणी यह सब परवस्तु हैं और उस ओर रुचिवान होने पर जो शुभाशुभभाव होते हैं, उनसे रहित मैं अकेला हूँ, अखंड, शुद्ध, निर्विकल्प हूँ। ऐसी श्रद्धा-ज्ञान हुये बिना और इस प्रकार की अंतर्शुद्धि किये बिना कभी किसी का जन्म-मरण दूर नहीं हुआ और कभी दूर होगा भी नहीं। *(प्रवचन-समयसार, गाथा ३४)*

सुवर्णपुरी के स्वाध्याय मंदिर में पूज्य श्री कानजीस्वामी के द्वारा सिखाई गई

जैनदर्शन की बारहखड़ी

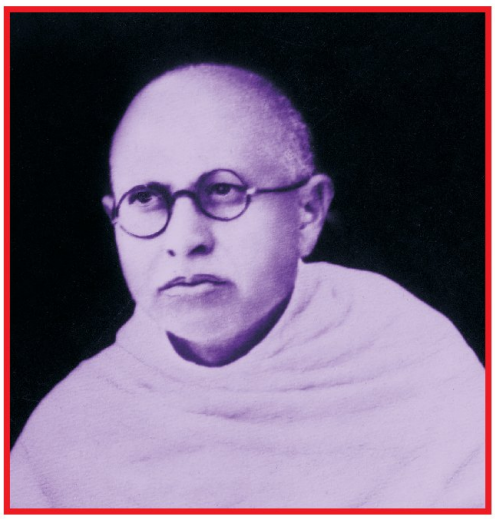

वीतराग का मार्ग-जैनदर्शन का रहस्य-वस्तु का स्वरूप अनेकांत है। वीतराग का मार्ग अर्थात् वस्तु का स्वरूप 'है' से प्रारंभ होता है। 'तू है' यह पहले निश्चित कर। कोई यह कहे कि मैं होऊंगा या नहीं, इसकी मुझे शंका है ? तो उसके लिये कहते हैं कि भाई ! मैं होऊंगा या नहीं ऐसी जो शंका हुई, वह किसने की। जो होता है, वह शंका करता है या जो नहीं भी होता, वह भी शंका करता है। जो नहीं होता, वह कुछ नहीं कर सकता। इसलिये जो शंका हुई, उसका करनेवाला तू है। अर्थात् 'मैं होऊँगा या नहीं' जहाँ ऐसी शंका हुई, वहाँ तेरा अस्तित्व निश्चित हो गया। यदि तू नहीं होगा तो यह शंका किसने की। इसलिये 'तू है' यह सर्व प्रथम निश्चिय कर। तत्पश्चात्.....

'तू है' तो अपने से है-पर से नहीं, इस प्रकार मैं हूँ इतना स्वीकार करने पर, मैं पर से स्वतंत्र-भिन्न हूँ, यह स्वतः आ जाता है। आत्मा है, यह कहने पर आत्मा दूसरे आत्मापन से नहीं है, और रजकणों की अपेक्षा से भी आत्मा नहीं है, यह दोनों बातें आ जाती हैं। यह 'अस्ति-नास्ति' जैनधर्म की पहली बारहखड़ी है।

'आत्मा है' यह निश्चित करते ही उसके साथ त्रिकालता आ गई। 'है' कहते ही यह निश्चय हो गया कि उसकी न तो उत्पत्ति है और न नाश। अर्थात् जो है, वह त्रिकाल है। इससे यह निश्चित हो गया कि 'तू है, तू पर से नहीं है, और तू त्रिकाल है।'

जो वस्तु होती है, उसमें स्वाश्रय से विकार नहीं होता और वस्तु त्रिकाल रहती है, उसकी अवस्था समय-समय पर वस्तु से स्वतः होती है। मात्र वस्तु में निज से विकार नहीं होता, फिर भी अवस्था में विकार है, वह विकार पराश्रित है—किन्तु वह विकार परवस्तु ने नहीं कराया। आत्मा में 'अविकारी' गुण त्रिकाल है। अवस्था में जो विकार है, उसके पीछे अविकारी गुण त्रिकाल गुण है। एक समय की अवस्था के लिये जो विकार है, उसमें सारा अविकारी गुण नहीं आ गया अर्थात्

विकारी दशा में अविकारी गुण की नास्ति है और उस गुण में विकारी पर्याय नहीं आई है, अर्थात् गुण में पर्याय की नास्ति है।

कई बार जीव विकल्प करता है कि 'मुझे विकार नहीं चाहिये' यही बताता है कि विकार गुण नहीं किन्तु क्षणिक अवस्था है, इसलिये उसे दूर किया जा सकता है। विकार क्षणिक अवस्था है, उसे दूर करनेवाला समस्त निर्विकारी स्वभाव है। त्रिकाली गुण में एक समय की अवस्था की नास्ति है और एक अवस्था में सारा स्वभाव नहीं आ जाता। (नास्तिरूप है)।

विकार अवस्था है, वह वर्तमान काल मात्र के लिये है, उसकी दूसरे समय की अवस्था में नास्ति है और विकार को दूर करनेवाली अविकारी शक्ति (गुण) है जो स्थिर है। इस अविकारी शक्ति में विकार घुसा हुआ नहीं है, और न वस्तु का एक गुण दूसरे गुण में प्रविष्ट हो सकता है। इसलिये—

वस्तु स्वतंत्र है, वस्तु के अनंत गुण प्रत्येक स्वतंत्र हैं, वस्तु की एक पर्याय (विकारी होने पर भी) स्वतंत्र है और क्षणिक पर्याय से त्रिकाल गुण स्वतंत्र है। द्रव्य अनंत गुण का पिंड है, इसलिये सारा द्रव्य एक गुण के बराबर नहीं है अर्थात् एक गुण में संपूर्ण द्रव्य की नास्ति है।

(१) समस्त द्रव्य में एक गुण की नास्ति है। (क्योंकि द्रव्य में एक ही गुण नहीं किन्तु अनंत गुण है)।

(२) एक गुण में समस्त द्रव्य की नास्ति है (क्योंकि यदि एक ही गुण में सारा द्रव्य आ जाय तो दूसरे गुण का अभाव हो)।

(३) एकगुण में दूसरे गुण की नास्ति है (क्योंकि यदि एक गुण में दूसरे की अस्ति हो तो दो गुण एक हो जाय अर्थात् गुण का अभाव हो जाय)।

(४) समस्त गुण में एक पर्याय की नास्ति है (क्योंकि यदि सारे गुण में एक पर्याय आ जाय तो विकार अवस्था के समय सारा गुण भी विकाररूप हो जाय तो फिर विकार को कौन टाले?)

(५) यह पर्याय में सारे गुण की नास्ति है (क्योंकि यदि एक ही पर्याय में सारा गुण परिणमित हो जाता हो तो दूसरे समय में गुण का अभाव हो जाय और एक पर्याय बदलकर दूसरी पर्याय ही न हो।)

(६) एक अवस्था की दूसरी अवस्था में नास्ति है (क्योंकि यदि पहली अवस्था की दूसरी अवस्था में नास्ति न हो तो पहली अवस्था का विकार दूसरी अवस्था में चला ही आये। अर्थात् कभी भी निर्विकारी अवस्था हो ही नहीं)।

एक अवस्था का विकार दूसरे समय नष्ट हो जाता है। जो विकार नष्ट हो जाता है, वह दूसरी अवस्था का क्या कर सकता है? कुछ भी नहीं कर सकता है। जैसे खरगोश के सींग नहीं होते इसलिये वे किसी को नहीं लगते। इसी प्रकार एक अवस्था का दूसरे में अभाव है, इसलिये वह दूसरी अवस्था में कुछ नहीं कर सकती। अर्थात् दूसरी अवस्था को विकारी किया जाय अथवा अविकारी किया जाय, यह अपनी स्वतंत्रता पर निर्भर है। पहले समय का विकार दूसरे समय में दूर हो ही जाता है, इसलिये विकार करना चाहिये या अविकार, यह अपने पर ही निर्भर है। विकार करने में भी स्वाधीनता है (यदि स्वयं करे तो होता है) और विकार को दूर करने में भी स्वयं स्वाधीन है।

यह जैनधर्म की बारहखड़ी है। अनेकांत धर्म का स्वरूप बिल्कुल सरल रीत्या कहा जाता है। आहाहा! अनेकांत! यह तो जगत् का स्वरूप है। अनेकांत की यह बिल्कुल सादी बात कही जाती है। मात्र इस एक अनेकांत को समझ ले तो स्वतंत्रता समझी जाय।

वर्तमान पर्याय का विकार दूसरी पर्याय में नहीं आता, इसलिये दूसरी पर्याय कैसी करना चाहिये, यह अपने द्रव्य के आधीन है। दूसरी पर्याय विकारी की जाय या निर्विकारी की जाय, यह तेरे आधीन है।

बस! यह है अनेकांत और यह है जैनदर्शन की चाबी। द्रव्य, गुण और पर्याय त्रिकाल स्वतंत्र सिद्ध हो गये। धन्य! जैनदर्शन।

सब से पहली बात यह है कि 'तू है या नहीं?' कह कि हाँ, मैं हूँ, ऐसा कहने पर वह परापेक्षा से नहीं है और उसका कर्ता कोई नहीं है, जो है उसका कर्ता कोई नहीं हो सकता, क्योंकि यदि उसका कोई कर्ता कहोगे तो यह सिद्ध होगा कि उस से पूर्व वह नहीं था, इसलिये जो 'है' उसका कर्ता कोई नहीं है और जो होता है, उसकी वर्तमान-वर्तमान हालत भी होती ही है। इसलिये जैसे वस्तु का कोई कर्ता नहीं है; उसी प्रकार वस्तु की गुण-पर्याय का भी कोई कर्ता नहीं है। वस्तु-गुण और पर्याय सब स्वतंत्र है। तेरा, तेरे गुण का अथवा तेरी पर्याय का कर्ता निमित्तरूप में भी कोई पर नहीं है।

एक 'है' में से अनेकांत के लागू होने पर द्रव्य, गुण, पर्याय का त्रिकाल स्वतंत्र सत् आ खड़ा होता है।

अहा! जैनदर्शन बिल्कुल सरल और सीधा है, किन्तु उसे विपरीत रूप में मानकर जटिल बना दिया है। (उसे विपरीत माना है, इसीलिये वह जटिल मालूम होता है।) ★

परम पूज्य श्री कानजीस्वामी का मोक्षमार्गप्रकाशक पर प्रवचन

आत्मा का शुद्ध और अशुद्ध उपयोग

''....क्योंकि यदि संसार में भी सुख होता तो संसार से छूटने का उपाय क्यों किया जाता'' इस पंक्ति का विवेचन चल रहा है।

प्रत्येक जीव क्षण-क्षण में दु:ख से मुक्त होने का उपाय कर रहा है। अच्छी खीर खाने में सुख माना होता है, किन्तु अमुक मात्रा में खीर खाने के बाद वह स्वयं इनकार कर देता है। यदि खीर के खाने में सुख होता तो कोई उस सुख से क्यों छूटना चाहेगा। इसी प्रकार सोने की बात है। कोई पाँच, सात, दस घंटे सोयेगा, उसके बाद उसे सोना अच्छा नहीं लगेगा। किसी को अपनी प्रशंसा सुनना अच्छा लगता हो, किन्तु अमुक समय के बाद अपनी प्रशंसा सुनकर उसे भी वह नहीं रुचेगी क्योंकि उसमें कहीं भी वास्तविक सुख नहीं है। यदि किसी भी संसारी कर्म में सुख होता तो वहाँ से ज्ञान का उपयोग क्यों हटाया जाता? सुख से कोई नहीं छूटना चाहता। संसार में सुख नहीं है, इसीलिये वहाँ से उपयोग को वापिस हटा लेता है। संसार के किसी भी कार्य में उपयोग अधिक समय तक नहीं टिक सकता और आत्मा में सुख तथा आनंद ही है, इसलिये आत्मा में ज्ञान का उपयोग एकाग्र होता है, उसे कोई नहीं बदलना चाहता।

किसी भी परवस्तु पर लक्ष्य जाता है, वहाँ उपेक्षा हो ही जाती है; इसीलिये वह उपयोग को वहाँ से बदलकर पुन: दूसरी वस्तु में उपयोग को लगाता है और इस प्रकार दु:ख से छूटना चाहता है। किन्तु उसे इस निश्चय की खबर नहीं है कि उपयोग कहाँ स्थिर करना चाहिये, और इसीलिये वह सच्चा उपाय नहीं करता।

परवस्तु में ज्ञान का उपयोग लगाता है और वहाँ भंग पड़ता है। मन के विचार भी बहुत उठते हैं, वहाँ से उकताकर उपयोग को बदलकर दूसरे में उपयोग को जोड़ता है, इससे सिद्ध होता है कि जीव मन के अवलंबन से छूटना चाहता है, किन्तु मन के अवलंबन से रहित स्व वस्तु की प्रतीति नहीं है; इसलिये पुन: परवस्तु में उपयोग को लगाता है। अज्ञानी जीव को यह खबर नहीं है कि कहाँ उपयोग को स्थिर करके एकाग्र होना चाहिये। जिससे उपयोग पुन: हटने न पाये और यदि कदाचित् अस्थिरता मात्र के कारण कुछ हटे तो भी उसे बदलकर पुन: कहाँ लगाया जाय? जीव, पर के उपयोग से छूटना तो चाहता है किन्तु पर के उपयोग से छूटकर कहाँ एकाग्र होना चाहिये?-

इसकी उसे खबर नहीं है, इसलिये वह संसार की ओर के उपयोग के व्यापार को बारंबार बदला करता है, किन्तु यथार्थ वस्तु की प्रतीति के बिना वह पर में उपयोग को एकाग्र करता है।

दृष्टांत—देखो एडीशन फोनोग्राफ की शोध के लिये ३ दिन तक एकाग्र रहा और उसके बाद चौथे दिन वह अपने विचारों की एकाग्रता से पीछे हट गया। क्योंकि वह परलक्ष्य से एकाग्र हुआ था। परलक्ष्य में एकाग्र होनेवाला कहाँ तक टिक सकता था? परलक्ष्य को लेकर जो विचार उठते हैं, वे सब कल्पना के घोड़े हैं, आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा दु:ख से छूटना चाहता है किन्तु उसे संसार संबंधी उपयोग से छूटकर निज में उपयोग को एकाग्र करने की खबर नहीं है।

इससे यह सिद्धांत निर्धारित हुआ कि आत्मा अपने उपयोग के अतिरिक्त पर में कुछ भी नहीं कर सकता। या तो वह स्व की ओर का शुद्धोपयोग करे अथवा पर की ओर का अशुद्धोपयोग करे। उपयोग के अतिरिक्त आत्मा दूसरा कुछ कर ही नहीं सकता। अज्ञानी परपदार्थों की ओर का उपयोग बदलता है, वहाँ उसकी मान्यता में भी विपरीतता है। ''यह परपदार्थ अनिष्ट है'' इस प्रकार सामने की वस्तु को खराब मानकर उस ओर से अज्ञानी जीव उपयोग को बदल लेता है।

अज्ञानी का भगवान पर जो शुभराग है, वह भी 'भगवान अच्छे हैं' इस प्रकार परद्रव्य को इष्ट मानकर राग करता है। किन्तु ज्ञानी परपदार्थ को इष्ट मानकर न तो राग करते हैं और न परद्रव्य को खराब मानकर द्वेष करते हैं। अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से राग-द्वेष हो जाता है, वे यह मानते हैं, और वे पुरुषार्थ की अशक्ति से होनेवाले राग-द्वेष को अपना स्वरूप नहीं मानते हैं। आत्मा के स्वरूप में राग नहीं है और परवस्तु राग का कारण नहीं है, ऐसी दृष्टि में राग है, उसे भी वे दूर करना चाहते हैं। राग को दूर करते-करते जो राग शेष रह गया है, उसका कारण परवस्तु की मान्यता नहीं है किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि वह अपने पुरुषार्थ की अशक्ति है। अज्ञानी जीव अपने परिणाम को न देखकर परवस्तु को भली-बुरी मानता है और परवस्तु के कारण राग-द्वेष मानता है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के राग-द्वेष में भी अंतर है।

भूल का मूल मिथ्यात्व ही है। न तो प्रवृत्ति के कारण भूल है, न कषाय के कारण भूल है और न प्रमाद अथवा योग के कारण भूल है, किन्तु मिथ्या मान्यता के कारण ही भूल है।

सर्व प्रथम बंधन मिथ्यात्व ही है और सबसे पहले मिथ्यात्व ही छूटता है। मिथ्यात्व के छूटने के बाद ही प्रमाद कषाय और योग छूटता है। मिथ्यात्व के छूटने के पहले वे नहीं छूटते। इस मिथ्यात्व को छोड़ने के लिये आत्मस्वरूप की प्रतीति करना चाहिये।

मोक्ष की क्रिया

लेखक-श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी

मोक्ष की क्रिया नामक —गुजराती—ग्रंथ की
प्रस्तावना तथा समर्पण यहाँ दिया जा रहा है

समर्पण

पूज्य श्री कानजीस्वामी की पवित्र सेवा में

आपने इस पामर पर परम उपकार किया है। आप वीतरागधर्म की महा प्रभावना कर रहे हैं। अनंत वीतरागियों के द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग क्या है? और उसे प्राप्त करने की वास्तविक क्रिया क्या है? यह आप इस भारतवर्ष में अपनी श्रुतगंगा के महाप्रवाह के द्वारा मुमुक्षु जीवों को प्रत्यक्ष समझा रहे हैं। भगवान के द्वारा कही गई क्रिया को आप स्थापित कर रहे हैं। आप के पवित्र उपदेश को सुनकर अनेक जीव पावन हुये हैं और हो रहे हैं। इसलिये 'मोक्ष की क्रिया' की यह लघु पुस्तक अत्यंत भक्तिभाव से आपको समर्पित करके आप के पवित्र कर कमलों में उपस्थित कर रहा हूँ।

आपका
दासानुदास
रामजी

॥ॐ॥

श्री सर्वज्ञ वीतरागाय नमः
श्री सद्गुरुदेवाय नमः

प्रस्तावना

१- इस ग्रंथ को तैयार करने का हेतु बताने से पूर्व जैन समाज की परिस्थिति जानना आवश्यक है, इसलिये सर्व प्रथम वह यहाँ कही जाती है।

सं. १९५२-५४ की परिस्थिति

२- श्रीमान् समीप समयवर्ती समयज्ञ श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—बहुत समय से

जैनों में ऐसे अरक्षित कुए की तरह आवरण (काई) आ गया है जिसके पानी का कभी उपयोग नहीं होता। कोई ज्ञानी पुरुष है नहीं। कितने ही समय से कोई ज्ञानी हुआ नहीं है, अन्यथा उसमें इतने अधिक कदाग्रह नहीं हो जाते। *(श्रीमद् राजचंद्र, पृष्ठ ५२९)*

(१) आश्चर्यकारक भेद हो गये हैं (२) खंडित हैं (३) संपूर्ण करनेयोग्य कार्य दुर्गम्य मालूम होता है। (४) उस प्रभाव में महत अंतराय है (५) देश कालादिक अति प्रतिकूल है (६) वीतरागों का मत लोक के प्रतिकूल हो गया है (७) जो लोग रूढ़ि से उसे मानते हैं, उनके लक्ष्य में भी वह प्रतीत नहीं मालूम होता। अथवा वे अन्यमत को वीतराग का मत समझकर प्रवृत्ति किये जा रहे हैं (८) यथार्थ वीतराग के मत को समझने की योग्यता की उनमें बहुत बड़ी कमी है (९) दृष्टि राग का प्रबल राज्य वर्तमान है (१०) वेष आदिक व्यवहार में घोर विडम्बना करके मोक्षमार्ग में अंतराय कर बैठे हैं (११) तुच्छ पामर पुरुष विराधक वृत्ति धारण करके सबसे अग्रभाग में वर्तमान हैं (१२) किंचित् सत्य के प्रगट होने पर ऐसा मालूम होता है जैसे उन्हें प्राणघातक दु:ख हो रहा हो। *(देखिये श्रीमद् राजचंद्र, पृष्ठ ७०२)*

३- श्री आत्मसिद्धि शास्त्र में उनने कहा है कि—

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग बहु लोप।
आत्मार्थी के मनन को कहते यहां अगोप॥

४- इससे सिद्ध होता है कि (१) इस समय मोक्षमार्ग के जाननेवालों का बहुलोप हो गया है (२) जो लोग रूढ़ि से उसे मानते थे, उन्हें वीतराग धर्म की प्रतीति नहीं थी (३) वे अन्यमत को वीतराग का मत समझ कर प्रवृत्ति करते थे।

तब से लेकर अबतक की परिस्थिति

५- इस देश में उसके बाद अंग्रेजी शिक्षा का बहुत प्रचार हुआ और जीवन निर्वाह के साधन बहुत तंग हो गये। उन्हें प्राप्त करने के लिये लोग अपना बहुभाग उसी में लगाने लगे; इसलिये वीतरागी तत्त्वज्ञान से समाज का लक्ष्य विशेष दूर होने लगा और प्रवर्तमान धर्म की रूढ़ियों के प्रति शिक्षित लोगों के बहुभाग को अरुचि होने लगी।

६- जैनधर्म कोई गुट्ट नहीं है, फिर भी उसके अनुयायियों ने धर्म के नाम पर गुट्ट बना रखे हैं और उनके, समर्थन के लिये संप्रदायों की परिषदें होने लगी हैं। उन परिषदों-सभाओं ने अपना लक्ष्य मुख्यतया (धार्मिक बनाने के बदले) समाज सुधार पर रखा है। लौकिक शिक्षा के लिये भी

प्रचार और फंड किये गये किन्तु यह जानने की कभी किसी ने चिंता नहीं की कि उस शिक्षा में वीतरागी विज्ञान विरुद्ध कितना क्या सिखाया जाता है ? परिणामस्वरूप धर्म पर से बाह्य श्रद्धा भी लगभग नष्ट हो गई। उन परिषद-सभा संचालकों का श्रीमद् राजचंद्र के निम्न लिखित अमूल्य कथन पर भी लक्ष्य नहीं रहा।

गच्छ मत की कल्पना है नहीं सद्व्यवहार।
भान नहिं निज रूप का निश्चय नहीं वह सार॥१३३॥

७- शिक्षा प्रचार प्रस्तावों पर ठीक अमल नहीं होता, इसलिये फरियाद बनी रही और समाज सुधार के अन्य प्रस्ताव मात्र कागज पर रह गये।

८- संवत् १९७४ में जब इस देश में इन्फ्ल्यूएंजा बुखार की महा बीमारी हुई थी, तब समाज सेवा मंडल प्रारंभ हुये थे और सेवा की ओर समाज की प्रवृत्ति हुई थी। संवत् १९८७ से राष्ट्रीय आंदोलन ने समाज के हृदय में प्रवेश किया, तब से युवक वर्ग राष्ट्रसेवा, देशसेवा समाजसेवा की ओर लग गया और वे लोग लौकिक कार्यों को धर्म के नाम से संबोधित करने लगे, वे उसे राष्ट्रधर्म, देशधर्म, समाजधर्म इत्यादि नाम देने लगे।

९- यह स्पष्ट है कि ऐसे आंदोलनों का प्रभाव उन पर हुये बिना नहीं रह सकता जो कुलधर्म से जैन हैं। जैनों को जब यह भासित हुआ कि उस आंदोलन में अहिंसा को स्थान दिया गया है तो जैन समाज उस ओर प्रेरित हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जैन समाज का कुछ भाग 'राष्ट्रधर्म' को ही वीतरागधर्म अथवा उसका एक भाग समझने लगा और अंततोगत्वा समाज वीतराग-विज्ञान से विशेष दूर हो गया।

१०- इस आंदोलन को लेकर जैन युवक संघ स्थापित हुये। जिनका मुख्य कार्यक्रम समाज सुधार और समाज सेवा रहा है। इस प्रवृत्ति को धर्म का नाम देकर समर्थन करने के लिये पुस्तकें और अखबार प्रगट हुये। उनमें तीर्थंकर भगवान के चरित्रों में से उनके कार्यक्रम को समर्थन मिलता है और वही सच्चा जैनधर्म है, इस आशय के लेख आने लगे।

११- समाज मुख्यतया तत्त्वज्ञान से रहित था और उसे प्रिय लगनेवाले कार्य जैनधर्म के अनुकूल हैं, ऐसे लेख पढ़ने को मिले तथा स्वयं जैनधर्म के सच्चे अनुयायी हैं; इस प्रकार की भ्रमरूप धारणा उनमें जम गई और वह दृढ़ हो गई। जब उनकी परीक्षा ली जाती है और उनसे छह द्रव्य, पंचास्तिकाय और नौ तत्त्वों के नाम तथा सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, तप, क्रिया

इत्यादि का वास्तविक अर्थ पूछा जाता है तो उनके उत्तर में परिणाम केवल शून्य ही आता है। इस प्रकार जहाँ तत्त्वज्ञान की अज्ञानदशा होय, वहाँ निश्चयनय और व्यवहारनय का वास्तविक अर्थ की खबर कहाँ से हो सकती है, यह सहज की कल्पना की जा सकती है।

एक विचित्रता

१२– संसार संबंधी व्यवसायों में से जिसने जिस व्यवसाय का पक्का अभ्यास किया हो, वही तत्संबंधी लेख अखबारों में लिखता है। आयुर्वेद पर कोई वकील लेख नहीं लिखता, किन्तु लोगों ने धर्म का क्षेत्र ऐसा मान रखा है कि तत्त्वज्ञान से वंचित होने पर भी चाहे जो व्यक्ति धर्म–विषय पर लेख लिख सकता है। और यदि वह लेखक समाज में कुछ प्रतिष्ठित हुआ तो उसका कथन आधारभूत माना जाता है और फिर यह भी माना जाता है कि ऐसी चर्चा से सत्य की शोध हो सकती है। यदि यह मान्यता सच हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि धर्म संबंधी लेखों के लिये उस विषय के विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं है और धर्म तो मानों बिल्कुल मुफ्ती ही है।

१३– यह तो हुई गृहस्थ समाज की दशा। अब त्यागी समाज की स्थिति को भी देखिये। कुछ संप्रदायों में त्यागियों की संख्या बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाने से शिकायतें होने लगी। युवक समाज और त्यागी समाज तथा उसका समर्थन करनेवाले गृहस्थ समाज के बीच संघर्ष होने लगा। त्यागियों के बीच बाह्याचरण को लेकर तीव्र क्लेशरूप मतभेद होने लगा। अखबारों में उस संबंध में बड़े ही जोर शोर की चर्चा होने लगी। और परस्पर आक्षेप किये जाने लगे। परिणामस्वरूप साधु समाज की संख्या में वृद्धि भले ही हुई हो किंतु फिर भी अनेक कारणों से वह समाज तत्त्वज्ञान से मुख्यतया वंचित रहा है। कुछ त्यागी समाज के अनुकूल विषयों को धर्म का स्वरूप मनवाते हैं और कुछ उपदेशक कहते हैं कि यह काल धर्म प्राप्त करने के लिये योग्य नहीं है फिर भी वे साधुओं की संख्या को बढ़ाते ही जाते हैं।

१४– इस प्रकार श्रीमद् राजचंद्रजी द्वारा कहे गये १२ मुद्दों में से ६–७–११–१२ नम्बर के मुद्दे विशेषतया पुष्ट हुये हैं। इसे तटस्थ विचारक अवश्य स्वीकार करेगा।

तत्त्वज्ञानरसिक जन

१५– उपरोक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि तत्त्वज्ञानरसिक जन कोई हैं ही नहीं। वीतराग का शासन पंचमकाल के अंत तक रहेगा। पंचमकाल २१००० वर्ष का है, उसमें से अभी २५०० ही वर्ष पूरे हुये हैं। इसलिये वीतरागी धर्म को समझने की रुचिवाले जीव होना ही चाहिये; अतः इस संबंध में क्या क्या हुआ है, इसे अब हम देखें।

१६- श्रीमद् राजचंद्र ने गुजरात काठियावाड़ में जन समाज को अध्यात्म समझाया और अध्यात्म के प्रचारार्थ 'श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल' की स्थापना की। इस प्रकार जन समाज पर (मुख्यतया गुजरात और काठियावाड़ पर) उनका महान उपकार प्रवर्तमान है।

१७- श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल की ओर से श्री कुंदकुंद आचार्य के बनाये हुये परमागम श्री समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, श्री योगीन्द्र देव कृत श्री परमात्मप्रकाश, श्री उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र, श्री अमृतचंद्र आचार्य कृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय, श्री नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत द्रव्यसंग्रह, गोमट्टसार इत्यादि ग्रंथ हिंदी भाषा में प्रगट किये और श्रीमद् राजचंद्र गुजराती और हिंदी में प्रगट किया।

१८- कलकत्ता और दूसरे स्थानों से अर्थ-प्रकाशिका, समाधि शतक, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, नियमसार और अष्टपाहुड़, समयसार नाटक, मोक्षमार्गप्रकाशक, जैनसिद्धांत प्रवेशिका, जैनसिद्धांत दर्पण आदि अनेक तत्त्व के ग्रंथ हिन्दी भाषा में प्रगट हुये हैं।

१९- गुजरात काठियावाड़ के जैनधर्म के भिन्न-भिन्न फिरकों के संघों ने इन ग्रंथों को अपनी लाइब्रेरी के लिये खरीदे तथा गुजरात काठियावाड़ के अनेक जैनों ने भी उन्हें खरीदा। लोगों के हाथ में यह साहित्य आने पर कुछ लोगों ने उसे पढ़ा, जिससे उनके मन में तात्त्विक प्रश्न उठने लगे और तटस्थ वृत्ति के लोग उसमें विशेष रस लेने लगे। इस प्रकार गुजरात काठियावाड़ में अध्यात्म रस के जो बीज श्रीमद् राजचंद्र ने बोये थे, वे उगते हुये दिखाई देने लगे।

एक पवित्र प्रसंग

२०- संवत् १९७२ में श्री वीरशासन के विशेष प्रचार का एक पवित्र प्रसंग अनेक मुमुक्षुओं के महान् पुण्योदय से बना। किसी धन्य घड़ी में पूज्य श्री कानजीस्वामी के हस्त कमल में श्रीमद् भगवत् कुंदकुंदाचार्य कृत श्री समयसार नामक महान ग्रंथ आया। समयसार को पढ़ते ही उनके हर्ष का पार न रहा। वे जिस की शोध में थे, वह उन्हें मिल गया। (उनने श्वेतांबर आगमों और उनकी टीकाओं तथा अन्य ग्रंथों का अभ्यास पहले किया था)। पूज्य श्री कानजीस्वामी ने अपने आंतरिक नयनों से समयसारजी में अमृत के छलकते हुये सरोवर देखे। एक के बाद दूसरी गाथा-टीका को पढ़ते हुये मानों अंजलि भर भरकर अमृत घूँट पिये। ग्रंथाधिराज श्री समयसारजी ने महाराज पर अनुपम अलौकिक उपकार किया और उनके आनंद का पार न रहा। भूली हुई परिणति ने निज घर

को देखा। उपयोगरूपी झरने का प्रवाह अमृतमय हो गया। जिनेश्वरदेव के सुनंदन गुरुवर्य की ज्ञान कला अब अपूर्व रीत्या खिलने लगी।

अध्यात्म ज्ञान की प्रभावना

२१– परम पूज्य श्री कानजीस्वामी का चातुर्मास सं. १९९० में राजकोट में हुआ। उस समय उनने श्री समयसारजी की प्रारंभ से ९९ गाथाओं तक का अर्थ अपनी मधुर और आबालवृद्ध के समझनेयोग्य सरल भाषा में समझाया। उसके अतिगहन आशयों को प्रगट किया, तब से समाज की अध्यात्म वृत्ति जागृत होने लगी।

२२– संवत् १९९० का चातुर्मास पूर्ण होने पर महाराज श्री जामनगर पधारे। वहाँ पर श्री समयसार का प्रवचन चालू रहा। इस प्रकार काठियावाड़ में अध्यात्म का प्रचार बढ़ता गया। जैनधर्म के तत्त्व के संबंध में उनकी मान्यता बदल चुकी थी; इसलिये उनने संवत् १९९१ की चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के पवित्र दिन को सोनगढ़ में स्थानकवासी संप्रदाय का त्याग किया। उनका मुख्य निवास सोनगढ़ में ही है। संवत् १९९५ में १० मास तक और संवत् १९९९ में लगभग ९ मास तक महाराज श्री राजकोट में रहे थे। वह समय तथा विहार का समय छोड़कर शेष समय वे सोनगढ़ में ही रहकर अंतिम ११ वर्ष से काठियावाड़ में वीतराग के तत्त्वज्ञान की मूसलधार अमृतवर्षा कर रहे हैं जिसका लाभ अनेक मुमुक्षुजन ले रहे हैं।

इस ग्रंथ की तैयारी

२३– बहुत से मुमुक्षु जीव, आध्यात्मिक ज्ञान में रस लेने लगे। इसलिये धर्म की वास्तविक क्रिया क्या है, यह जानने के लिये उनकी आकांक्षा बढ़ने लगी। कई उपदेशक यह समझाया करते थे कि शरीर–जड़ की क्रिया से धर्म होता है। लोग जो सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तप, उपवास, दान, भक्ति, देवदर्शन, पूजा इत्यादि करते हैं, वही भगवान के द्वारा कही गई क्रिया है और उसे करते–करते धीरे–धीरे धर्म होगा यों समझा रहे थे। साम्प्रदायिक मनोवृत्ति वाले जीवों की यह आदत होती है कि कुलधर्म के गुरु जो कुछ कहते हैं, उसे वे ननु नच किये बिना मान लेते हैं, इसलिये वे ऐसी भ्रम पूर्ण मान्यता को पुष्ट किया करते हैं कि इस क्रिया से अपना उद्धार हो जायगा।

२४– कई उपदेशक तो यह कहते हैं कि हम वर्तमान में चलनेवाली क्रिया के महा उपासक हैं, हम उसके उपदेशक हैं, इस काल में लोग धर्म को नहीं समझ सकते, इसलिये वे जिस प्रकार कियाऐं करते रहते हैं, उसी प्रकार उन्हें करते रहना चाहिए। इस प्रकार वे मूढ़ता को पुष्ट करते हैं।

यदि इस काल में जीव धर्म को नहीं पाल सकते तो वे सच्चे उपदेशक कैसे माने जायंगे। यदि यह काल धर्म के योग्य नहीं है तो प्रतिदिन साधुओं की संख्या बढ़ाने से क्या लाभ है ? यदि इस काल में जीव धर्म को नहीं पा सकते तो वे सच्ची साधु दीक्षा कैसे लेंगे और सच्चे साधु कैसे होंगे ?

२५- ऐसी परिस्थिति में कई मुमुक्षु भाई कहने लगे कि वीतराग देव के द्वारा प्ररूपित क्रिया कौन सी है ? इसके संबंध में एक पुस्तक लिखी जाय तो अच्छा हो। उनकी यह भावना उचित प्रतीत होने से पूज्य श्री कानजीस्वामी के मुख कमल से निकलने वाली वाणी से इस संबंध में मैं जो कुछ भी ग्रहण कर सका, उसे मैंने इस ग्रंथ में लिखा है। इसमें वीतराग विज्ञानता के अनुसार कथन करने की पूरी सावधानी रखी गई है।

२६- इस ग्रंथ में निम्न विषय लिये गये हैं—(१) ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः (२) ज्ञप्तिक्रिया (३) करोति क्रिया (४) मोक्ष को काटनेवाली क्रिया (५) कुसामायिक क्रिया-सुसामायिक क्रिया (६) कुप्रतिक्रमण-सुप्रतिक्रमण (७) सच्चा प्रत्याख्यान (८) सच्चा तप (९) सच्ची गुप्ति-समिति (१०) धर्म अनुप्रेक्षा और परीषहजय का स्वरूप (११) भक्ति (१२) प्रशस्त दान, शील, तप भाव (१३) देह दमन, इंद्रिय निग्रह का सच्चा अर्थ (१४) मोक्षमार्ग में ज्ञान और क्रिया का कितने कितने दोकड़ें (१५) जीव प्रथम क्या करे (१६) निमित्त परद्रव्य का कुछ नहीं कर सकता (१७) निश्चय-व्यवहार का स्वरूप (१८) जीव की अनादि से चली आई भूल (१९) जीव के अनादि के सात व्यसन इत्यादि विषय लिये गये हैं।

पाठकों से प्रार्थना

२७- निम्नलिखित विषयों पर विशेष लक्ष्य रखने की प्रार्थना है—

(१) सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारंभ होता है।

(२) सम्यग्दर्शन को प्राप्त किये बिना किसी भी जीव को सच्चे व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप, प्रत्याख्यान इत्यादि नहीं हो सकते। क्योंकि वह क्रिया पहले पाँच में गुणस्थान में शुभभावरूप होती है।

(३) शुभभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के होते हैं किन्तु अज्ञानी यह मानता है कि उससे धर्म होगा; और ज्ञानी (हेयबुद्धि होने से) यह मानता है कि उससे कदापि धर्म नहीं होगा।

(४) इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यहाँ पर शुभभाव करने का निषेध किया गया है किन्तु यह बताया गया है कि उसे न तो धर्म मानना चाहिये और न यह मानना चाहिये कि उससे क्रमशः धर्म होगा, क्योंकि अनंत वीतरागों ने उसे बंध का कारण कहा है।

(५) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। परिणमन नहीं करा सकता, प्रेरणा नहीं कर सकता, असर, मदद या उपकार नहीं कर सकता, हानि-लाभ नहीं कर सकता, मार या जिला नहीं सकता, सुख-दुःख नहीं दे सकता। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की संपूर्ण स्वतंत्रता अनंत ज्ञानियों ने पुकार-पुकार कर कही है।

(६) जिनमत में ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व हो, उसके बाद व्रत हो। सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है। इसलिये पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिये।

(७) पहले गुणस्थान में जिज्ञासु जीवों के शास्त्राभ्यास, पठन, मनन, ज्ञानी पुरुषों का धर्मोपदेश सुनना, निरंतर उनके समागम में रहना, देवदर्शन, पूजा, भक्ति, दान इत्यादि शुभभाव होते हैं किंतु पहले गुणगान में सच्चे व्रत, तप इत्यादि नहीं होते।

२८- ऊपरी दृष्टि से देखनेवाले के निम्न लिखित दो शंकाओं का होना संभव है—

(१) इस प्रकार का कथन सुनने अथवा पढ़ने से लोगों को बहुत हानि होने की संभावना है।

(२) वर्तमान में लोग जो कुछ भी व्रत, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमणादि क्रिया करते हैं, वह छोड़ देना चाहिये।

उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

यह कहना बहुत बड़ी भूल है कि सत्य से किसी भी जीव को हानि हो सकती है। वह तो ऐसी ही बात होगी जैसे यह कहा जाय कि असत् कथन से लोगों को लाभ होता है। सत् के सुनने या पढ़ने से जीवों को कदापि हानि नहीं हो सकती। मात्र यह जानना आवश्यक है कि व्रत, प्रत्याख्यान करनेवाले ज्ञानी हैं या अज्ञानी ? यदि वे अज्ञानी हैं तो उनके सच्चे व्रतादि हो ही नहीं सकते, इसलिये उन्हें छोड़ने का प्रश्न ही नहीं है। यदि व्रत करनेवाला ज्ञानी होगा तो यह मानना न्याय विरुद्ध है कि वह छद्मस्थदशा में व्रतों को छोड़कर अशुभ में चला जायगा। हाँ, यह हो सकता है कि वह क्रमशः शुभभाव को दूर करके शुद्ध को बढ़ावे। किन्तु वह तो लाभ का कारण है, हानि का नहीं; इसलिये सत्य कथन से किसी को हानि नहीं हो सकती।

२९- इस प्रकार जीवों को सत्य का स्वरूप और मोक्ष प्राप्ति करने की वास्तविक क्रिया का स्वरूप बतानेवाला यह ग्रंथ सबके लिये हित का ही कारण है।

३०– बहुत से जीव धर्म करना चाहते हैं और उसके लिये क्रिया करना चाहते हैं किन्तु उन्हें यह यथार्थ प्रतीत नहीं होती कि किस क्रिया के करने से धर्म होगा। इसलिये वे धर्म के नाम पर अधर्म का सेवन करते रहते हैं। इसलिये इस पुस्तक में बताया गया है कि धर्म की क्रिया क्या है ? और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? अतः उसका सावधानीपूर्वक अभ्यास करने के लिये जिज्ञासु जीवों से खास निवेदन है।●●

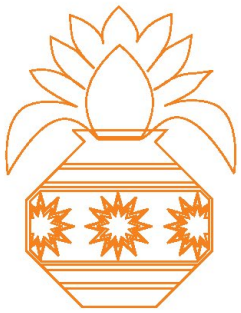

एक स्पष्टीकरण

(आत्मधर्म अंक १२ में ''सर्वत्र ज्ञान ही प्रकाशमान है'' शीर्षक लेख प्रगट हुआ था, उसका विशेष स्पष्टीकरण)

ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ता सल्लक्षणांकिताः।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः॥३९५॥

अन्वयार्थ : (**ज्ञानाद्विना**) ज्ञान के अतिरिक्त (**सर्वे गुणाः**) शेष सब गुण (**सल्लक्षणांकिताः प्रोक्ताः**) मात्र सत्‌रूप लक्षण से ही लक्षित होते हैं इसलिये (**सामान्यात् वा विशेषात्वा**) सामान्य अथवा विशेष दोनों अपेक्षा से (**सत्यं आकार मात्रकाः न**) वास्तव में अनाकार रूप ही होते हैं अर्थात् अर्थ विकल्पात्मक नहीं होता।

भावार्थ : केवल ज्ञानगुण ही अर्थविकल्पात्मक होता है, इसलिये साकार कहलाता है और ज्ञान के अतिरिक्त शेष सब गुण अर्थविकल्पात्मक नहीं होते, इसलिये अनाकार कहलाते हैं। अतः वास्तव में ज्ञान के अतिरिक्त शेष सब गुण सामान्यरूप से और विशेषरूप से केवल अनाकाररूप हैं।

ततो वक्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुनः।
तदुल्लेखं समालेख्यं ज्ञानद्वारा निरूप्यते॥३९६॥

अन्वयार्थ : (**ततः**) इसलिये (**निर्विकल्पस्य वस्तुनः वक्तुंअशक्यत्वात्**) निर्विकल्प

वस्तु का कथन अनिर्वचनीय होने से **(ज्ञानद्वारा तदुल्लेखं समालेख्य)** ज्ञान के द्वारा उन सामान्यात्मक गुणों का उल्लेख करके **(निरुप्यते)** उनका निरूपण किया जाता है।

भावार्थ : ज्ञान के अतिरिक्त शेष सब गुण अनाकाररूप होने से निर्विकल्प हैं और निर्विकल्प वस्तु का कथन नहीं हो सकता, इसलिये उन सामान्यात्मक गुणों का अविनाभावी ज्ञान की पर्यायों में उन गुणों का आरोप करके उनका ज्ञान के द्वारा उल्लेख किया जाता है।

(पंचाध्यायी, भाग-२, गाथा ३९५-३९६)

समदर्शीपन का अर्थ क्या है ?

(बहुत लोग सभी धर्मों को एक समान मानने और उनका समन्वय करने को समदर्शित्व कहते हैं, वह गलत है। इसलिये यहाँ पर उसकी सच्ची व्याख्या की जा रही है।)

श्रीमद् राजचंद्रजी ने समदर्शित्व की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

समदर्शिता का अर्थ है पदार्थ में इष्ट-अनिष्टबुद्धि का न होना, इच्छा का न होना, ममत्व का न होना। समदर्शिता चारित्रदशा की सूचक है। राग-द्वेष रहित होना, सो चारित्रदशा है। इष्ट-अनिष्टबुद्धि, ममत्व भावाभाव का होना, सो राग-द्वेष है। यह मुझे प्रिय है, यह अच्छी लगती है, यह मुझे अप्रिय है, यह अच्छी नहीं लगती है; इस प्रकार का भाव समदर्शी के नहीं होता।

समदर्शी बाह्य पदार्थ को और उसकी पर्यायों को उसी भाव से देखता है, जानता है और बतलाता है, जिस भाव से वह पदार्थ ओर उस की पर्यायें प्रवर्तमान होती हैं; किन्तु उस पदार्थ अथवा उसकी पर्यायों के प्रति ममत्व अथवा इष्ट अनिष्ट भाव नहीं करता।

आत्मा का स्वाभाविक गुण देखना और जानना है, इसलिये वह ज्ञेय पदार्थ को ज्ञेयाकार देखता और जानता है, किन्तु जिस आत्मा के समदर्शिता प्रगट हुई है, वह आत्मा उस पदार्थ को देखते और जानते हुये भी उस में ममत्वबुद्धि, तादात्म्यभाव अथवा इष्ट-अनिष्टबुद्धि नहीं करता। विषमदृष्टि आत्मा, पदार्थ के प्रति तादात्म्यवृत्ति हो जाता है, किन्तु समदृष्टि आत्मा नहीं होता।

कोई पदार्थ यदि काला हो तो समदर्शी उसे काला ही देखता है, जानता और बतलाता है और यदि कोई श्वेत हो तो उसे वैसा देखता, जानता और बतलाता है। कोई सुगंधि हो तो उसे वैसा देखता जानता और बतलाता है और कोई दुर्गन्धि हो तो उसे वैसा देखता जानता और बतलाता है। यदि कोई ऊँचा हो अथवा नीचा हो तो उसे वैसा देखता जानता और बतलाता है। सर्प को सर्प की प्रकृति के रूप में देखता, जानता और बतलाता है। तेंदुए को तेंदुए की प्रकृति के रूप में देखता, जानता और बतलाता है, इत्यादि प्रकार से वस्तुमात्र को वह जिसरूप में या जिस भाव में होती है, समदर्शी उसे उसी रूप में देखता, जानता और बतलाता है। वह हेय (छोड़नेयोग्य) को हेयरूप देखता, जानता और बतलाता है तथा उपादेय ग्रहण करनेयोग्य को उपादेयरूप में देखता, जानता और बतलाता है, किन्तु समदर्शी आत्मा उन सबमें अपनापन इष्ट-अनिष्टबुद्धि और राग-द्वेष नहीं करता। सुगंध को देखकर प्रियता और दुर्गंध को देखकर अप्रियता नहीं करता। व्यवहार से अच्छी माने जानेवाली वस्तु को देखकर ऐसी इच्छा बुद्धि (राग, रति) नहीं करता कि यह वस्तु मुझे प्राप्त हो तो ठीक हो। व्यवहार से बुरी माने जानेवाली वस्तु को देखकर ऐसी अनिच्छा बुद्धि (द्वेष, अरति) नहीं करता कि यह वस्तु मेरे पास न हो तो ठीक हो। प्राप्त स्थिति—संयोग में अच्छा बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, इष्टानिष्टता, और आकुलता-व्याकुलता न करके उसमें समवृत्ति से अर्थात् अपने स्वभाव में राग-द्वेष से रहित होकर रहना सो समदर्शिता है।

★ ★ ★ ★

समदर्शिता का अर्थ लौकिक भाव में समानभाव, अभेदभाव, एकसी बुद्धि अथवा निर्विशेता नहीं है अर्थात् कांच और हीरे को समान मानना अथवा सत् श्रुत और असत् श्रुत में समपना गिनना अथवा सद्धर्म और असद्धर्म में अभेद मानना अथवा सद्गुरु और असद्गुरु में एकसी बुद्धि रखना अथवा सच्चे देव और झूठे देव में निर्विशेषता दिखाना अर्थात् दोनों को एक सा मानना इत्यादि रूप जो समानवृत्ति है, वह समदर्शिता नहीं है; यह तो आत्मा की मूढ़ता, विवेक शून्यता अथवा विवेक विकलता है।

समदर्शी सत् को सत् जानता है-बोधता है और असत् को असत् जानता है, निषेध करता है। सत् श्रुत को सत् श्रुत जानता है, बोधता है; कुश्रुत को कुश्रुत जानता है, निषेध करता है। सद्धर्म को सद्धर्म जानता है, बोधता है; असद्धर्म को असद्धर्म जानता है, निषेध करता है। सद्गुरु को सद्गुरु जानता है, बोधता है; असद्गुरु को असद्गुरु जानता है, निषेध करता है। सच्चे देव को

सच्चा देव जानता है, बोधता है; झूठे देव को झूठा देव जानता है, निषेध करता है–इत्यादि जो जैसा हो, उसे वैसा जाने, देखे, प्ररूपे उसमें राग–द्वेष या इष्ट अनिष्ट बुद्धि न करे; इस प्रकार समदर्शिता समझना चाहिए। *(श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथ, भाग–२)*

इसके अतिरिक्त श्री आत्मसिद्धि पर प्रवचन करते हुए परम पूज्य श्री कानजीस्वामी ने 'समदर्शिता' की व्याख्या करते हुए कहा है कि—

समदर्शिता का मतलब यह नहीं है कि खराब को खराब न कहे किन्तु सत्य–असत्य का यथार्थ विवेक करे। बुरे का निषेध करे, हित–अहित को बराबर जाने और जो जैसा है, उसे वैसा कहे, इसी में समदर्शिता है। उसमें राग–द्वेष नहीं है। *(आत्मसिद्धि प्रवचन, पृष्ठ ९४)*

ज्ञानी निधड़क होकर सत्य प्ररूपणा करता है कि जगत् को नहीं रुचने से वह कोई विपरीत भाव नहीं कहता। वह ज्ञानी को ज्ञानी और अज्ञानी को दोषवान कहता है, वह किसी आत्मा की निन्दा नहीं करता है किन्तु जो जैसा है, उसे वैसा कहता है। उसमें यदि किसी को विषाद होने की संभावना हो तो वह कदाचित् समय देखकर मौन रह जाता है किन्तु असत्य मान्यता, कुतर्क, कुदेव, कुधर्म, कुशास्त्र को खराब कहकर निषेध करने में ज्ञानी का कोई दोष नहीं है।

कोई कहता है कि 'दृष्टि विष चला जाने पर सभी समान दिखता है' यह बात गलत है। ज्ञानी सत्य–असत्य, अमृत–विष, स्वभाव–परभाव, अकषाय और कषाय को एकसा नहीं मानता किन्तु जैसे को तैसा मानता है–कहता है। असत्य का निषेध करता है। कुज्ञानी (असमदर्शी) सत्य को नहीं पहचानने के कारण ज्ञान का, सत्य का निषेध करता है। *(आत्मसिद्धि प्रवचन, पृष्ठ ९५)*

समदर्शिता ऐसी नहीं होती कि सत्य–असत्य, सार–असार और हिताहित को एकसा माने, एक सा जाने। मांस और रोटी की अवस्था को वह जैसी है, उसे वैसी विवेक से जाने। स्त्री, पुरुष, माता, बहिन जिस प्रकार हैं, उसी प्रकार उस अवस्था के रूप में जाने किन्तु अन्यथा न माने; विपरीत मान्यतावाले को विपरीत माने–जाने। इस प्रकार बलवान् विवेकवान समदर्शी धर्मात्मा होते हैं। ....अयथार्थ को अयथार्थ कहने में द्वेष नहीं है किन्तु जो जैसा है, उसे वैसा ही मानने में समदर्शिता अर्थात् समभाव है। किन्तु राग–द्वेष, मान, अपमान को समान मानना, सो समभाव नहीं है। *(आत्मसिद्धि प्रवचन, पृष्ठ १२५)*

जो जैसा है, उसे वैसा जाने किन्तु उसमें राग–द्वेष न करे, यह समदर्शिता का लक्षण है। ...स्वभाव में राग–द्वेष रहित होकर रहना, सो समदर्शिता है। *(आत्मसिद्धि प्रवचन, पृष्ठ १२८)*

स्वच्छंदी होकर अपनी मति कल्पना से सर्वज्ञ परमात्मा के न्याय की अल्पज्ञ जीव अन्य लौकिक धर्मों के साथ तुलना करते हैं। कहाँ सूर्य का तेज और कहाँ जुगनू का मंद प्रकाश ? इसका समन्वय करनेवाले सूर्य को ढ़कने का प्रयत्न करते हैं, वे सब आत्मज्ञान से अजान हैं। सत्य को सत्य और असत्य को असत्य मानना, कहना अथवा उसका उपदेश देना, सो इसमें दोष नहीं है। समदर्शी होकर भी अविरोधरूप में जो जैसा है, उसे वैसा कह सकता है, इसी को सच्ची समदर्शिता समझना चाहिये। *(आत्मसिद्धि प्रवचन, पृष्ठ १३२)*

वह नास्तिक है जैन नहीं

(पूज्य श्री कानजीस्वामी के समयसार प्रवचन कलश १ से)

जिसने वीतरागदेव की सर्वज्ञता को माना है और उनकी जैसी सामर्थ्य है, वैसी ही सामर्थ्य अपनी एक समय की पर्याय में भी है; इस प्रकार जिसने स्वीकार किया है, वह राग-द्वेष को अपना नहीं मानता; क्योंकि सर्वज्ञ के राग-द्वेष नहीं होता। संपूर्ण राग हीनता होने पर ही सर्वज्ञता हो सकती है, इसलिये जिसने सर्वज्ञत्व को अपना स्वरूप माना हो, वह राग को अपना स्वरूप नहीं मानता। जो राग को अपना मानता है, वह सर्वज्ञता को अपनी नहीं मानता (क्योंकि जहाँ राग है, वहाँ सर्वज्ञता नहीं होती और जो अपने स्वरूप को सर्वज्ञ नहीं मानता, वह अपने देव के स्वरूप को भी सर्वज्ञ नहीं मानता और जो अपने देव के स्वरूप को यथार्थ नहीं मानता, वह नास्तिक है, जैन नहीं।)

सूचना

कृपालु ग्राहक,

कार्यालय के साथ पत्र व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखें।

जैसी गति वैसी मति नहीं किन्तु जैसी मति वैसी गति होती है

(पूज्य श्री कानजीस्वामी का समयसारजी की गाथा ३४ पर प्रवचन)

एक मोक्ष अवस्था और दूसरी निगोद अवस्था, इस प्रकार दो परस्पर विरोधी अवस्थायें हैं। मोक्षदशा सादि-अनंत है और निगोद में से भी अनंतानंत काल में भी निकलना मुश्किल है, इसलिये यदि तत्त्व की पहिचान न की गई तो निगोद से अनंत काल में भी लट होना मुश्किल होगा। यदि तत्त्व को समझ ले तो मोक्ष और न समझे तो निगोद है। अब बीच में रह जाता है त्रस का काल, उसे निकाल दिया तो सीधा निगोद ही है और तत्त्व को समझने के बाद एक दो भव होते हैं, उन्हें निकाल दिया तो सीधा सिद्ध ही है।

नरक की अपेक्षा निगोद में अनंतगुणा दु:ख है क्योंकि बाह्य संयोग दु:ख का कारण नहीं हैं किन्तु ज्ञान की मूढ़ता ही दु:ख है। अग्नि में जल जाना दु:ख नहीं है, किन्तु वह प्रतिकूलता मुझे हो जाती है; इस प्रकार मोह करना, सो दु:ख है। इसी प्रकार अनुकूलता में बाह्य साधन सुविधाओं के मिलने से सुख नहीं होता, किन्तु मोह से यह कल्पना करता है कि उनसे मुझे सुख होता है। लेकिन वह सुख नहीं दु:ख है।

बड़ा बँगला हो, कोई हिंडोले में झुल रहा हो और उसके मस्तक पर पंखे चल रहे हों तो वह उसे सुख जानता है मानों सारा सुख इसी में आ गया हो, किन्तु भाई! सिर पर चार गति के पंखे चल रहे हैं। जैसे पंखा के चार पांखे होती हैं; उसी प्रकार चार गति की चार पांखों वाला पंखा सिर घूम रहा है, इसलिये उसमें सुख मानना छोड़ दे और आत्मा की पहिचान कर। नहीं तो सीधा निगोद में जायगा, जहाँ पर फिर पता लगाना मुश्किल होगा।

एक अभिप्राय यह है कि पहले जो अनादि काल से कर्म बँधे हुये हैं, वे अब कैसे छूट सकते हैं? किन्तु भाई! वे कर्म तेरी भूल से बँधे हैं अपनी भूल के कारण ही तू भटकता फिरा। जो चौरासी के अवतार हुये हैं, वे भी तेरी भूल के कारण हुये हैं, इसलिये यदि तू अपनी भूल को दूर करेगा तो कर्म छूट जायेंगे। संसार परिभ्रमण में कर्म तो निमित्तमात्र हैं। तूने अपनी अनादि कालीन भूल को कभी नहीं छोड़ा, इसलिये तू परिभ्रमण कर रहा है। जिसे अपनी भूल का भान नहीं है, वह

मानता है कि मुझे वह कर्म चक्कर लगवा रहे हैं और कर्मों ने मुझे पराधीन कर रखा है। स्वयं तो कर्मरूपी पत्थर से चिपका हुआ है और कहता है कर्म मुझे हैरान करते हैं। कर्म से कहता है कि तू अब खिसक जा, किन्तु यह तो देख कि तू ही कर्म से चिपका हुआ है। वे कर्म तो खिसके ही पड़े हैं, तू अपनी विपरीत मान्यता से तो खिसक जा। कर्म बाधक हो ही नहीं सकते क्योंकि एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को त्रिकाल में भी हानि पहुँचाने में समर्थ नहीं है।

अब भविष्य के अवयव की बात कहते हैं। कई लोग कहा करते हैं कि 'न जाने कितने समय तक यह कर्म परिभ्रमण करायेंगे।' ऐसा कहनेवाले पुरुषार्थहीन नपुंसक हैं। कहा जाता है कि 'कर्म मुझे करेंगे और कर्मों ने मुझे परेशान कर डाला' अरे! क्या कह रहा है? जड़ तुझे परेशान करेंगे? जड़ ने तुझे परेशान कर डाला? तनिक विचार तो कर, तेरी सत्ता में परसत्ता कभी प्रविष्ट हो सकती है कि जो तुझे हैरान करे और परेशान करे? अकेले कर्म ही हैं या तेरा भी कोई अस्तित्व है? तुझ में कोई दम है या नहीं? तेरी उपस्थिति है या मात्र कर्म ही हैं? तू विपरीतता से खिसक जा और देख कि कर्म खिसके ही पड़े हैं। इस शरीर के कारण जो कर्म के रजकण थे, वे जब दूर हो जाते हैं, तब शरीर भी अलग हो जाता है, जो अलग होने योग्य होता है, वह सब अलग होता है। चिदानंद ज्ञानस्वरूप आत्मा अकेला है, उससे शरीरादि तथा क्रोधादि समस्त पर अलग होने योग्य हैं, इसलिये वह अलग हो जाता है।

शरीर में कोई रोग आता है तो वह किसी कर्म का कार्य होता है और रोग के दूर होने पर उसका कारण कर्म भी दूर हो जाता है। स्वयं राग-द्वेष, काम, क्रोध न करे तो उसका कारण कर्म भी दूर हो जाता है और मात्र अकेला आत्मा रह जाता है।

कर्म का नाम तो शास्त्र में से सुना और कहने लगा कि कर्म को लेकर गति मिलती है और जैसी गति होती है, वैसी मति होती है। इस प्रकार विपरीत समझ लिया, और 'जैसी मति वैसी गति होती है' यह कहने के बदले 'जैसी गति वैसी मति' इस प्रकार आत्म-प्रतीति के बिना विपरीत कहता है।

अज्ञानी, बालतप-अज्ञान कष्ट करता है। उसमें यदि शुभभाव होता है तो पुण्य बाँधता है किन्तु उसकी दृष्टि पर के ऊपर है, इसलिये वह शुभ बदलकर अशुभ हो जायगा। क्योंकि पुण्य परिणाम के करते समय 'मैं ही पुण्य हूँ' इस प्रकार का विपरीत अभिप्राय हो जाता है, इसलिये पुण्य के साथ दर्शनमोह भी बँधा है। उस विपरीत मान्यता के बल से पुण्य की स्थिति को तोड़कर और

अशुभभावों को बाँधकर नरक-निगोद में चला जायगा।

ज्ञानी समझता है कि मैं इस राग-द्वेष का उत्पादक नहीं हूँ। अल्प शुभराग होता है परन्तु उसका मैं उत्पादक नहीं हूँ; किन्तु मैं अपने स्वभाव का उत्पादक हूँ। इस प्रकार ज्ञानी की दृष्टि शुद्ध पर गई है, इसलिये वह पुण्य की स्थिति को तोड़कर शुद्ध में चला जायेगा।

भगवान आचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव, कर्म को ही आत्मा मानते हैं, उन्हें यह खबर नहीं है कि कर्मों का नाश करके वीतरागता प्रगट करनेवाले हम ही हैं। इसलिये उन जीवों को संसार में ही परिभ्रमण करना है। ○○

हम कहते हैं वैसा एक बार अभ्यास कर

(पूज्य श्री कानजीस्वामी का श्री समयसार कलश ३४ पर प्रवचन)

आचार्यदेव कहते हैं कि हम तुझ से ही कहते हैं, उसे तू समझ सकेगा, इसलिये हम तुझे समझा रहे हैं। तू आत्मा है, ज्ञानस्वरूप है, तुझमें समझ ने की शक्ति है, इसलिये तुझे समझाते हैं। लकड़ी को कोई नहीं समझाता क्योंकि वह जड़ है। तू भी जो कुछ काम बतलाता है, वह उसी को बतलाता है जो समझ सकता है। लकड़ी को संबोधित करके कभी यह नहीं कहता कि पानी ला, क्योंकि लकड़ी में उस शब्द के भाव को समझने की शक्ति नहीं है, यह तू जानता है। इसलिये जो 'पानी ला' इस भाव को समझ सकता है, उसी को तू पानी लाने के लिये कहता है।

दूसरी बात यह है कि तिजोरी की चाबी विश्वस्त नौकर को सौंपी जाती है, किन्तु दो वर्ष के अपने बालक को नहीं सौंपी जाती—यद्यपि भविष्य में सब कुछ उसी लड़के को देना है किन्तु

वर्तमान में उसमें योग्यता नहीं है; इसलिये उसे नहीं सौंपी जाती है। जैसे तू लौकिक कार्यों में किसी की योग्यता का ज्ञान करके उसे योग्य कार्य सौंपता है; इसी प्रकार यहाँ सर्वज्ञदेव ने अपने ज्ञान में तुझमें सिद्धत्व की योग्यता देखी है और उस योग्यता को देखकर ही तुझे ऐसा उपदेश दे रहे हैं। अनंत काल से तेरे पर की ओर के विपरीत अभ्यास की खबर है, फिर भी हम कह रहे हैं कि तू रागादि और कर्म से आत्मा को भिन्न मान और उन सबसे भिन्न शुद्ध आत्मा की श्रद्धा कर। भाई! अपनी मान्यता के अनुसार तो तू अनंतानंत काल से करता आया है, फिर भी तेरा संसार अभी तक ज्यों का त्यों उपस्थित है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि तेरी मान्यता गलत है, इसलिये उस मान्यता को छोड़कर अब एक बार जैसा हम कहते हैं, उस प्रकार अभ्यास कर। मात्र छह महीना तक ही ऐसा करने से तुझे आत्मस्वरूप की प्राप्ति अवश्य होगी। ३४ वें कलश का यही आशय है।

आत्मा त्रैकालिक है। पुण्य-पाप के जो भाव होते हैं, वे वर्तमान एक क्षण मात्र के लिये होती हैं। उस क्षणिक भाव में सारा आत्मा नहीं आ जाता। आत्मा त्रिकाल एकरूप रहता है और पुण्य-पाप तो दूसरे ही क्षण में दूर हो जाते हैं। इसलिये जो दूर हो जाते हैं, वे भाव तेरे स्वरूप के नहीं हैं, कर्म के हैं। इस प्रकार स्वरूप का बल बताने के लिये कहते हैं, इसलिये स्वभाव की श्रद्धा कर।

आत्मा का नि:सन्देह निर्णय हो सकता है

(गाथा ३८ टीका प्रवचन में से)

निर्णय करने का स्वभाव आत्मा का है। आत्मा में ज्ञान नामक त्रिकाल गुण है। उसका कार्य निर्णय करना है, निश्चय करने का गुण ही आत्मा से अभिन्न है, इसलिये जो जीव यह कहता है कि 'आत्मा का निर्णय नहीं हो सकता' वह आत्मा के निर्णय करनेरूप ज्ञानगुण को ही नहीं मानता अर्थात् वह आत्मा को ही नहीं मानता अर्थात् आत्मा और गुण भिन्न नहीं हैं।

निर्णय करनेरूप गुण तो आत्मा में त्रिकाल है। उसकी विकाररूप अवस्था होती है, तब पर में 'यह मैं हूँ' यों मानता है। यद्यपि यह मान्यता गलत है फिर भी वहाँ उसे नि:शंक होकर मानता है। जो पर में नि:शंक हो जाता है, वह स्व में नि:शंक क्यों न हो? नि:शंकरूप में निर्णय करने की शक्ति तो आत्मा में ही है। जो अवस्था के द्वारा पर का अथवा अपनी अवस्था का निर्णय करता है और उसमें नि:शंक हो जाता है, वह यदि उस अवस्था के द्वारा त्रैकालिक अखंड स्वभाव का निर्णय करे तो उसमें संदेह कैसे हो सकता है? स्व का निर्णय करने में सन्देह नहीं हो सकता।

ज्ञान की जो पर्याय पर की ओर अथवा क्षणिक पर्याय की ओर लक्ष्य करके नि:सन्देह होती है, वह पर्याय यदि दीर्घ कालीन हो तो स्व की ओर ढले अर्थात् यदि त्रैकालिक का लक्ष्य करे तो उसमें संदेह न हो क्योंकि अवस्था तो द्रव्य में से ही द्रवित होती है और यह अवस्था स्वोन्मुख होने पर, द्रव्य-पर्याय अभेद हुये तो फिर वहाँ द्रव्य की श्रद्धा में संदेह कैसे हो सकता है ?

द्रव्य में से ज्ञान की अवस्था आती है, वह अवस्था क्षणिक है; उस अवस्था के द्वारा 'जो शरीर है, सो मैं हूँ, जो राग है, सो मैं हूँ' इस प्रकार वर्तमान क्षणिक का निर्णय करता है, उसमें किंचित्मात्र भी शंका नहीं करता है। यदि वह अवस्था, स्वभाव की ओर ढले तो स्वभाव परिपूर्ण है और उसके बल से श्रद्धा भी पूर्ण नि:संदेह हो जाती है।

वर्तमान अवस्था के द्वारा प्रस्तुत वर्तमान का लक्ष्य करता है और उस में नि:संदेह होता है। वह नि:संदेहत्व क्षणिक को लक्ष्य करके होात है, इसलिये वह क्षणिक है; किन्तु यदि वर्तमान अवस्था जिसमें से आती है, उस त्रैकालिक द्रव्य का लक्ष्य करे तो उसमें कदापि संदेह न रहे। यह नि:संदेह श्रद्धा प्रत्येक जीव अपनी और के पुरुषार्थ से कर सकता है। ★

भगवान आत्मा के शुद्ध स्वरूप की यथार्थ प्रतीति हुये बिना राग-द्वेष का वास्तविक

त्याग नहीं हो सकता

(पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

तत्प्रति प्रीति चितेन येन वार्तापि श्रुता:।
निश्चितं सभवेद्भव्यो भावि निर्वाणभाजनम्॥

[पद्मनंदि पंचविंशति : एकत्व अधिकार]

इस शरीर में निवास करनेवाले आत्मा के स्वरूप को यदि स्वभावदृष्टि से देखा जाय तो त्रिकाल निर्मल और पवित्र है। क्षणिक अवस्था की दृष्टि से उसमें पुण्य-पाप की वृत्ति दिखाई देती है, आत्मा वैसा नहीं है। एक तत्त्व में यदि दूसरे तत्त्व का निमित्त न लिया जाय तो उसमें विकार नहीं हो। भूल क्षणिक दृष्टि से और अनादि से हुई है। यदि भूल न हो तो परमानंदस्वरूप प्रगट हो और

यदि वह भूल, स्वरूप में हो तो दूर नहीं हो सकती। यदि प्रगटरूप में अच्छा हो तो कोई अच्छा करना ही न चाहेगा और यदि अच्छाई त्रिकाल स्वभाव में न हो तो अच्छा करने का प्रश्न ही न रहे।

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, इसलिये सिद्ध है कि उसे वर्तमान में प्रगट सुख नहीं है। सुख अपना स्वरूप है। यदि सुख की सत्ता स्वीकार न की जाय तो सुख की शोध ही न हो। जो नहीं होता, उसमें कार्य करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करता। सुख का प्रयास करता है, इससे सिद्ध है कि कहीं सुख का अस्तित्व मानता है। यदि सुख का अस्तित्व न हो तो कोई उसे शोधे ही नहीं, और यदि सुख प्रगट हो तो भी उसे कोई ढूंढे नहीं। सुख कहीं मान रखा है और उसके उपाय को भी स्वीकार किया है, किन्तु वह सुख कहाँ है और उसका उपाय क्या है ? इसकी प्रतीति हुये बिना यह जीव, सुख के नाम पर दुःख का उपाय अनादिकाल से कर रहा है।

एक तत्त्व को दूसरे की आवश्यकता होना, सो पराधीनता है। नाशवान् वस्तु से अविनाशी का सुख मानने में भीतर भय बना रहता है कि इस वस्तु का संयोग हट जायेगा तो मैं अकेला रह जाऊँगा अर्थात् मेरा सुख चला जायगा, ऐसी आकुलता रहती है।

आपतित प्रतिकूलता के समय मरण का दुःख सहन करके-देह को छोड़कर भी दुःख दूर करके सुख चाहता है। शरीर को छोड़कर भी सुख लेना चाहता है। इसमें यह गर्भित है कि शरीरादि पर के बिना मैं अकेला सुखस्वरूप हूँ। अव्यक्तरूप में भी ऐसी श्रद्धा विद्यमान है कि मैं बिना शरीर के अकेला सुखरूप रह सकूँगा; इसलिये शरीर को छोड़कर भी सुख लेना चाहता है। इसमें तीन बातें आ गई—(१) सुख का अस्तित्व माना है (२) उपाय करता है (३) शरीर को छोड़कर (अकेला आत्मा रहकर) भी सुख चाहता है; इसलिये अज्ञानरूप में-अव्यक्तरूप में भी यह मान रहा है कि—

'मैं अकेला रहकर भी सुख प्राप्त कर सकता हूँ, अशरीरी अकेला रह सकूँगा, अकेले स्वभाव में सुख भरा हुआ है। राग और विकाररहित एकाकी स्वरूप में सुख है—ऐसे निर्णय के बिना सुख प्रगट नहीं होता। आत्मा में सुख है, वह सुख स्वाधीन है; पर के आधार से रहित है और वह प्रगट हो सकता है।

पर से निराले सहज आनंदस्वरूप आत्मा की प्रतीति नहीं की। अज्ञानभाव में पर के बिना अकेला सुख प्राप्त कर सकता हूँ; इस प्रकार अव्यक्तरूप में मानता है किन्तु प्रतीत भाव में व्यक्तरूप में कभी नहीं माना और फिर चाहे जैसी अनीति करता हो, तथापि बाह्य में अपने को अनीतिवाला

नहीं कहलवाता क्योंकि अप्रगटरूप में भी वाणी में सत् का शरण लिये बिना वह जी नहीं सकेगा। यदि कोई उसे 'अनीतिवान्' कहता है तो फौरन कहता है कि क्या हम अनीतिवाले हैं। जगत के प्राणी भी अनीति की शरण में रहकर जीना नहीं चाहते और व्यक्तरूप में सत्य की शरण के बिना नहीं रह सकेंगे। जगत में प्राणी झूठाई करते हैं किन्तु वे बाह्य में यह नहीं कह सकते कि हमें झूठाई पर निर्वाह करना है। वाणी में सत्य की इतनी शर्म रखे बिना जगत में चल नहीं सकता, इसका अर्थ यह हुआ कि चाहे जो हो किन्तु सत्य की आड़ में रहना तो चाहता है।

किसी को अपने भावानुसार फल नहीं मिलता हो, यह नहीं हो सकता। माया-दंभ से कोई भी अपने भाव के फल को नहीं बदल सकता।

पाप छुपाया न छुपे, छुपे तो महाभाग्य;
दाबी दुबी न रहे, रुई लपेटी आग॥

'अनीति से पैसा प्राप्त नहीं करना है' यह निश्चय करने के बाद बिना पैसे के आपतित कठिनाई को 'द्वेषरहित' सहन करना होगी। अनीति को छोड़ने पर अनीति के कारण मिलनेवाली तथाकथित सुविधा नहीं मिलेगी तो भी समभाव रखना पड़ेगा। शरीर को छोड़कर भी वह अनीति नहीं करेगा। जिसे अनीति नहीं करना है, उसे शरीर के जाने पर भी उस पर द्वेष नहीं हो सकता किन्तु अन्तरस्वरूप की शांति की प्रतीति हुये बिना द्वेष अवश्यंभावी है, अर्थात् आत्मा की शांति की प्रतीति हुये बिना नीति भी नहीं रह सकती।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप है, ज्ञाता-दृष्टा में पर के करने का जो भाव है, सो ममत्व है, तब फिर अनीति के त्याग का ध्येय कहाँ रहा कि जिससे शरीर पर के राग-द्वेष का त्याग करे? जिसे राग-द्वेष को दूर करना है, उसे राग-द्वेष को क्षणिक मानना होगा और उसे नाशवान मानना होगा। जिसे पर की अनीति की यथार्थ त्यागवृत्ति करना हो, उसे पहले तो यह निर्णय करना होगा कि वह अनीति और राग-द्वेष अपने त्रैकालिक स्वभाव में नहीं है। इस निर्णय के बिना राग-द्वेष दूर नहीं होगा।

भगवान आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्रतीति हुये बिना राग-द्वेष का वास्तविक त्याग नहीं हो सकता और राग-द्वेष का त्याग हुये बिना शरीरादि संयोग का त्याग नहीं हो सकता तथा अशरीरी स्वरूप प्रगट नहीं हो सकता।

प्रारंभ में कही गई गाथा का पहला शब्द 'तत्प्रति' है। उसका अर्थ क्या है? जैसी प्रीति पर

के ऊपर है, वैसी प्रीति आत्मा के ऊपर होनी चाहिये। पुण्य-पाप की प्रीति को छोड़कर ऐसे (जैसा हमेशा कहा जाता है वैसे) निर्मल आत्मा की प्रीति करके एक बार भी जिसने आत्मस्वरूप की बात को सुना है, वह जीव अवश्यंभावी मुक्ति का भाजन होता है। जीव ने प्रसन्नचित्त से कभी यह बात नहीं सुनी, कान में तो अवश्य पड़ी है किन्तु जहाँ तक पर की रुचि रहती है, वहाँ तक आत्मा की रुचि नहीं होती और आत्मा की रुचि के बिना यह शब्द यदि कान में पड़ते हैं तो वह सुना हुआ नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर 'सुनी है' यह लिखा है, 'पढ़ी है' यह नहीं कहा, इसमें गहन न्याय है।

शरीर अपनी मर्यादा पर (आयुकर्म की स्थिति के अनुसार) छूटता है। अनंत बार शरीर छूटा है किन्तु जिसे शरीर के छूटने में अरुचि होती है, उसे शरीर को अनुकूल रखने का भाव होता है। शरीर के जाते हुये अरुचि किसे न होगी? इसका उत्तर यह हुआ कि जिसने यह जान लिया है कि अरुचि भी मेरा स्वरूप नहीं है, उसे अरुचि नहीं होती। शरीर के छूटते हुये जिसे यह विचार आता है कि बराबर औषधोपचार नहीं हुआ, इसलिये ऐसा हुआ है, उसके मन में यह है कि मुझे शरीर को टिकाना नहीं आया, ऐसी वृत्ति रखनेवाले जीव का यह शरीर तो छूट ही जायगा, किन्तु उसे दूसरा शरीर भी अवश्य धारण करना होगा। (शरीर पर है) पर को निभाने की शक्ति मुझमें है—ऐसा भाव लेकर वह जहाँ जायगा, वहाँ शरीर धारण किये बिना नहीं रहेगा।

संसार के कार्यों में—वकील के काम में डाक्टर या डाक्टर के काम में वकील दखल नहीं देता, किन्तु धर्म के काम में सभी सयाने बन जाते हैं। अनंत काल से अपूर्व धर्म की बात स्वयं कभी जानी नहीं है, फिर भी जहाँ धर्म की बात चल रही हो, वहाँ फौरन अपना मत प्रगट कर देता है। अरे भाई! यदि तुझे धर्म की खबर है तो तुझसे पूछते हैं कि धर्म तो आत्मा का स्वभाव है और आत्मा का स्वभाव जन्म-मरण से रहित है, तब क्या तुझे जन्म-मरण रहित स्वभाव का निश्चय हुआ है?

आत्मा के स्वभाव में उपेक्षा नहीं है। यदि शरीर के जाने पर भी बुरा न लगे तो कहा जा सकेगा कि शरीर को छोड़ दिया—उसकी चिंता नहीं की। अंतरंग में आत्म शांति की प्रतीति हो, तभी शरीर को निर्ममत्व होकर छोड़ा जा सकता है। 'राग-द्वेष को छोड़ता हूँ' इस प्रकार का निश्चय करे, किन्तु राग-द्वेष को छोड़कर उन्हें छोड़नेवाला त्रिकाल स्थायी कौन है? इसकी प्रतीति हुये बिना राग-द्वेष को नहीं छोड़ सकता।

यहाँ आत्मा की बात चल रही है। ऐसे अपूर्व स्वभाव की बात प्रीतिपूर्वक सुनी हुई कब कहलायेगी? यदि अंतरंग में पुण्य की प्रीति न रखे तो। संसार के प्रति जो राग की प्रीति है, उसे कम

करके यदि आत्मा की बात को सुने तो प्रीति से सुना हुआ कहलायगा। किन्तु यदि संसार के राग को कम किये बिना सुने तो कहना होगा कि उसने आत्मा की बात को नहीं सुना किन्तु राग की बात को सुना है। मेरा तत्त्व (आत्मा का स्वरूप) पुण्य-पाप की समस्त वृत्तियों को छोड़नेवाला है।

यहाँ पर 'प्रीति से सुनकर' यों कहा है, 'प्रीति से पढ़कर' यह नहीं कहा। यदि पढ़ने से मोक्ष होता हो तो पहले पन्नों (पोथी के पृष्ठों) का मोक्ष होना चाहिये। पृष्ठ तो जड़ हैं, जड़ में ज्ञान नहीं होता। जिसमें ज्ञान हो, उसमें से ज्ञान आता है किन्तु यदि न हो तो उसमें से नहीं आता है। यहाँ 'सुनकर' कहा है, इसमें निमित्त व्यक्त किया है। दीपक से दीपक प्रगट होता है; उसी प्रकार जिसमें ज्ञान होता है, उसी में से आता है, न्याय तो गहन है किन्तु संक्षेप में कहा जाता है।

जिसने कोई विकार रखनेयोग्य माना है, उसे निर्विकार स्वरूप की रुचि नहीं है। 'प्रीति से सुनी है' यह जो कहा है उसमें सुननेवाले में जो पर की रुचि का त्याग है, वह सुननेवाले का उपादान है और 'सुनकर' में ज्ञानी गुरु का निमित्त बताया है। उपादान-निमित्त कैसे होना चाहिये, इसका वर्णन 'प्रीति' से और 'सुनकर' में आ गया है। शास्त्र में तो सब कुछ लिखा है किन्तु उसे जाननेवाला ही जानता है। अपढ़ को तो सफेद कागज पर काले अक्षर मालूम होते हैं। वस्तु का जैसा स्वभाव है, उस तरफ को—आत्मा को ले जाना सो न्याय है। आहाहा! ऐसा आत्मा! जिसे मैं प्रगट करना चाहता हूँ वह तो मुझ में ही है और जिसे दूर करना चाहता हूँ, वह नाशवान-कृत्रिम है। इस प्रकार जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है कि आत्मा पर से भिन्न शुद्ध है, वह समस्त राग-द्वेष इत्यादि को छोड़कर उसे (आत्मा की शुद्धता को) प्राप्त किये बिना नहीं रहता। ऐसा आत्मा जो जिस प्रकार कहा गया है, उसे जिसने उसी प्रकार प्रीतिपूर्वक सुनकर सत् के बीज बोये हैं, वह भविष्य में सहज शांति अकृत्रिम सुखरूपी फल अवश्य पाता है और कृत्रिम राग-द्वेष-अशांति नष्ट हो जाती है।

परपदार्थ पर होनेवाली वृत्ति मेरी नहीं है और मैं अविकारी शुद्ध हूँ; जिसे ऐसी रुचि हो गई है, उसे फिर स्थिर होने का वायदा नहीं होता। प्रत्येक जीव रुचिवाली वस्तु को जल्दी से जल्दी प्राप्त करना चाहता है। जिसे उसकी रुचि हुई, उसका उसे वायदा नहीं होता।

जानीते यः परं ब्रह्म कर्मणः पृथगेकताम्।
गतं तद्धत बोधात्मा तत्स्वरूपं रागच्छति॥ *[पद्मनंदि, गाथा २४]*

जितनी कर्म की वृत्ति और उसका फल है, मेरा स्वरूप उससे पृथक् है, जिसने यह जान लिया है, वह आत्मा बारंबार उसमें स्थिर होने का प्रयत्न करता है। अपनी वस्तु का एक अंश भी

पराधीन रहे, यह वह नहीं चाहता। यदि दरवाजे की चौखट में उंगली कुचल जाय तो फौरन चिल्लाता है, उसी प्रकार जिसे स्वरूप की ऐसी प्रतीति है कि यदि 'मेरी वस्तु का एक अंश भी पर में दबे तो वह मुझे सह्य नहीं है' वह यह मानता है कि 'मेरी एक भी पर्याय राग-द्वेष में दबे तो वह मुझे नहीं पुसाता' और जैसा निर्मलस्वरूप है, वैसा स्वयं जानकर अपने में स्थिर होकर वह परम ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है, मुक्ति और आत्मा के आनंद को वह प्राप्त कर लेता है। ★

वन्दन करने योग्य

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २७०-२७१)

दंसण मूलो धम्मो उवइट्ठंजिणवरेहिंसिस्साणं।
तं सो ऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन जिसका मूल है—ऐसे जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट धर्म को सुनकर, हे कर्ण सहित पुरुषों! सम्यक्त्व रहित जीव की वन्दना नहीं करना चाहिये। जो स्वयं कुगुरु और कुगुरु के श्रद्धान से युक्त है, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है तथा सम्यक्त्व के बिना अन्य धर्म भी नहीं हो सकता, तब फिर वह धर्महीन वंदना के योग्य कैसे हो सकता है ?

जे दंसणेसु भट्ठा, णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठाविभट्ठा, सेसं पि जणं विणासंति॥

अर्थ—जो दर्शन (श्रद्धान) से भ्रष्ट हैं, ज्ञान से भ्रष्ट हैं, और चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे जीव भ्रष्टातिभ्रष्ट हैं। जो जीव उनका उपदेश मानते हैं, उन जीवों का भी वे नाश करते हैं-बुरा कर देते हैं।

जे दंसणेसु भट्ठा, पाए पाडंति दंसण धराणं।
ते हुंति लुल्लमूया, बोही पूण दुल्ल हा ते सिं॥

अर्थ—जो स्वयं तो सम्यक्त्व से भ्रष्ट हैं, तथापि सम्यक्त्वधारियों से अपने पैर पुजवाना चाहते हैं, वे लूले, गूंगे अथवा स्थावर होंगे और उन्हें बोधि की प्राप्ति का होना महा दुर्लभ होगा।

जे वि पडंति च तेसिं, जाणंता लज्जगारव भएण।
तेसिं पि णत्थि बोही, पावं अणुमोयमाणाणं॥

अर्थ—जो जानता हुआ भी लज्जा, गारव या भय से उसके पैर पूजते हैं, उन्हें भी बोधि अर्थात् सम्यक्त्व नहीं होता। वे जीव कैसे हैं? मात्र पाप की अनुमोदना करते हैं। पापियों का सन्मानादि करने पर भी उस पाप की अनुमोदना का फल गता है।

(नोट —यहां श्री कुंदकुंदाचार्य ने दर्शनपाहुड़ में उपरोक्त दो, आठ, बारह और तेरहवीं गाथा में सम्यक्त्वहीन को वंदन न करने की बात कही है, इसलिये वंदन करनेवाले को सर्व प्रथम सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी की पहिचान होना आवश्यक है। क्योंकि बिना पहिचान के वंदन करने पर भी वंदन का यथार्थ फल उसे नहीं मिलता। यदि सच पूछा जाय तो बिना पहिचान-बिना परीक्षा के वंदन करना, वंदन ही नहीं है। यहाँ पर जो वंदन की बात है, सो धर्मबुद्धिपूर्वक वंदन की समझना चाहिये। सम्यग्दर्शन ही पहला धर्म है। जिसमें यह धर्म नहीं है, वह धर्मबुद्धिपूर्वक वंदन करनेयोग्य नहीं है।)

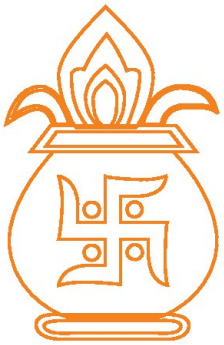

गुणार्थिकनय क्यों नहीं ?

(पूज्य श्री कानजीस्वामी)

शास्त्रों में अनेक स्थानों पर द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय की चर्चा आती है, किन्तु कहीं भी 'गुणार्थिकनय' का प्रयोग नहीं किया गया, इसका क्या कारण है ? इस संबंध में यहाँ कुछ कहा जाता है:—

कोई ऐसी तर्क करे कि —

तर्क १—द्रव्यार्थिकनय के कहने पर उसका विषय गुण और पर्यायार्थिकनय के कहने पर उसका विषय पर्याय होता है तथा यह दोनों मिलकर प्रमाण, सो द्रव्य है। इस प्रकार मानने से गुणार्थिकनय का प्रयोग नहीं किया गया है। यदि कोई इस प्रकार से कहे तो वास्तव में ऐसी बात नहीं है।

तर्क २—द्रव्यार्थिकनय का विषय द्रव्य और पर्यायार्थिकनय का विषय पर्याय है तथा वह पर्याय, गुण का अंश है; इसलिये पर्याय में गुण अंतर्हित है। इस प्रकार मानकर गुणार्थिकनय का प्रयोग नहीं किया गया है। यदि कोई इस प्रकार समाधान करे तो यह भी ठीक नहीं है।!

समाधान

गुणार्थिकनय का प्रयोग न करने का वास्तविक कारण

शास्त्रों में द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय का ही प्रयोग किया गया है। उन दोनों नयों का वास्तविक स्वरूप यह है कि—

पर्यायार्थिकनय का विषय अपेक्षित-बंध-मोक्ष की पर्याय है और उससे रहित (बंध-मोक्ष की अपेक्षा रहित) त्रिकाली गुण और त्रिकाली निरपेक्ष पर्याय से युक्त जो त्रैकालिक द्रव्य सामान्य है, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है। इस अर्थ में शास्त्रों में द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय का उपयोग किया गया है, इसलिये गुणार्थिकनय की आवश्यकता नहीं रहती।

शास्त्रों में द्रव्यार्थिकनय का प्रयोग किया जाता है, इसमें एक गहन रहस्य है।

द्रव्यार्थिकनय का विषय त्रैकालिक द्रव्य है और पर्यायार्थिकनय का विषय क्षणिक है। द्रव्यार्थिकनय के विषय में अलग गुण नहीं है क्योंकि गुण को अलग करके लक्ष्य में लेने पर विकल्प उठता है और विकल्प पर्यायार्थिकनय का विषय है।

मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के त्याग-ग्रहण का अंतर

[श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी]

मिथ्यादृष्टि की मान्यता त्याग और ग्रहण— विषय सुखादि का फल नरकादिक है, शरीर अशुचिमय है और विनाशीक है, पोषण करनेयोग्य नहीं है तथा कुटुम्बादिक स्वार्थ के सगे हैं-इत्यादि परद्रव्यों के दोषों का विचार करके उनका त्याग करता है।

तथा व्रतादि का फल स्वर्ग-मोक्ष है, तपश्चरणादि पवित्र फल देनेवाले हैं, इनके द्वारा शरीर का शेषण करनायोग्य है तथा देव-गुरु-शास्त्रादिक हितकारी हैं-इत्यादिक परद्रव्यों के गुण का विचार करके उसी को अंगीकार करते हैं।

इस प्रकार परद्रव्यों को बुरा समझकर अनिष्टरूप श्रद्धा करता है और किन्हीं परद्रव्यों को भला समझकर इष्टरूप श्रद्धा करता है।

उनकी उदासीनता में भूल—परद्रव्यों में इष्ट-अनिष्टरूप श्रद्धा करना, सो मिथ्या है और उसी श्रद्धा से उसकी उदासीनता भी द्वेषबुद्धिरूप होती है क्योंकि किसी को बुरा समझने का नाम द्वेष है और इस प्रकार मान्यता के गलत होने से उसका त्याग, द्वेषरूप है और अंगीकार रागरूप है; इसलिये उस जीव के कभी भी धर्म का अंश नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि की मान्यता तथा त्याग और ग्रहण —

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि भी तो परद्रव्यों को बुरा समझकर त्याग करता है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि परद्रव्यों को बुरा नहीं समझता किन्तु अपने राग भाव को बुरा मानता है। स्वयं सरागभाव का त्याग करता है, इसलिये उसके कारण का भी त्याग हो जाता है। वस्तुदृष्टि से विचार करने पर वास्तव में कोई भी परद्रव्य न तो भला है और न बुरा।

प्रश्न—परद्रव्य भले और बुरे का निमित्तमात्र तो है ?

उत्तर—परद्रव्य जबरदस्ती से तो कहीं भी कुछ नहीं बिगाड़ता। जब अपने भाव स्वयं निज

से बिगड़ते हैं, तब जिस परद्रव्य पर लक्ष्य करके स्वयं अपने भाव को बिगाड़ता है, उस परद्रव्य को निमित्त कहा जाता है। निमित्त परद्रव्य है, एक परद्रव्य दूसरे में अकिंचित्कर है—वह कुछ भी नहीं कर सकता।

और फिर निमित्त (परद्रव्य की उपस्थिति) के बिना भी भाव तो जब जीव बिगाड़ता है, तब बिगड़ता है; इसलिये परद्रव्य नियमरूप निमित्त (उपस्थितरूप में) भी नहीं हैं।

इस प्रकार परद्रव्यों का दोष देखना, सो मिथ्याभाव है। मिथ्यादृष्टि जीव यह नहीं समझता कि रागादिक ही बुरे हैं, वह तो परद्रव्यों के दोष मानकर उनमें द्वेषरूप उदासीनता करता है और इसीलिये वह मिथ्या उदासीनता है।

सम्यग्दृष्टि की यथार्थ उदासीनता—

सच्ची उदासीनता तो वह यह है कि किसी भी परद्रव्य के गुण या दोष भासित न हों और इसलिये वह किसी को बुरा-भला न समझे। निज को निजरूप जाने और पर को पररूप जाने; पर के साथ मेरा कोई प्रयोजन नहीं है; इस प्रकार पहले अपनी मान्यता में निश्चय करे। इस प्रथम दृष्टि में सच्ची उदासीनता है। ऐसी यथार्थ मान्यता (दृष्टि, अभिप्राय) के होने पर वह सरागभाव को छोड़ देता है और जितना राग-द्वेष छूटता है, उतना वह चारित्र में परद्रव्यों के प्रति साक्षीभूत रहता है, उसी का नाम सच्ची उदासीनता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के गृहस्थदशा में अभिप्राय में संपूर्ण सच्ची दशा होती है और चारित्र में आंशिक उदासीनता होती है।

अभिप्राय (मान्यता) में सम्पूर्ण सच्ची उदासीनता का जोर होने से चारित्र में राग-द्वेष का नाश होता जाता है और इसलिये क्रमशः उस उदासीनता के बढ़ने पर गृहस्थदशा छूटकर साधु की सच्ची उदासीनता प्रगट होती है और उसके बढ़ते-बढ़ते सम्यग्ज्ञानी जीव चारित्र में संपूर्ण उदासीनता प्रगट करता है, उसे संपूर्ण वीतरागता भी कहा जाता है।

सारांश —

मिथ्यादृष्टि परद्रव्यों का दोष मानकर उनका त्याग करता है; इसलिये वह द्वेषरूप त्याग है और परद्रव्य लाभदायक है, इस प्रकार मानकर उनके प्रति का राग अंगीकार करता है। मान्यता में दोष होने से त्याग-ग्रहण में दोष आता है अर्थात् खोटी मान्यता और खोटे चारित्र का अनादि का

ग्रहण एवं सच्ची मान्यता और सच्चे चारित्र का अनादि का त्याग उसके है जो चालू रहता है। सम्यग्दृष्टि परद्रव्यों से लाभ या हानि नहीं मानता और अपने स्वरूप की सच्ची मान्यता करता है। उसकी मान्यता सच है, इसलिये वह थोथी मान्यता का त्याग करता है और सच्ची मान्यता को ग्रहण करता है। और क्योंकि मान्यता सच्ची है, इसलिये आंशिक राग-द्वेष का त्याग तथा चारित्र की शुद्धता का आंशिक ग्रहण प्रथम अवस्था में होता है और उस शुद्धता के बढ़ने पर वह संपूर्ण शुद्धता को प्रगट करता है। ★

आत्मधर्म फाईल

आत्मधर्म अंक १ से १२ तक की सजिल्द फाईल तैयार है। यदि आप आत्मधर्म की शुरुआत से ग्राहक न हो तो आज ही प्रथम वर्ष की फाईल मंगाइये। कीमत ३-१२-० ट. ख. ०-५-० रजिस्टर से मंगाने के लिये ०-३-० ज्यादा लगेंगे।

पता— **आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया-काठियावाड**

मुक्ति का मार्ग

आत्मधर्म के प्रथम वर्ष के जो ग्राहक थे, उन्हें श्री जैन स्वाध्याय मंदिर की ओर से 'मुक्ति का मार्ग' भेंट की गई थी, अब जो प्रथम वर्ष की फाईल मँगाते हैं और जो दूसरे वर्ष के ग्राहक बनते हैं, उन्हें वह भेंटरूप में नहीं मिलती है। जिन्हें जरूरत हो दाम देकर मँगा सकते हैं। कीमत ०-१०-० ट. ख. ०-२-०।

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सुवर्णपुरी-सोनगढ़-काठियावाड़

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता. २३-०९-४६
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड